JAIPUR

ओ३म्

वैशेषिकदर्शनम्

कणादमुनिप्रणीतम्

यच

तुलसीरामस्वामिना

सरलभाषानुवादेन सङ्कलय्य

स्वीये

स्वामिमेशीनयन्त्रालये मुद्रयित्वा प्रकाशितम्

मेरठ

फ़रवरी सन् १९१२ ई०

मूल्यम् ।।=), कच्ची जिल्द ।।३)

ओ३म्

भूमिका

वैशेषिकदर्शन कणाद मुनि का बनाया दर्शन है, जिस का "वैशेषिक" नाम इस अन्वर्थ संज्ञा से पड़ा कि-

अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४ । ३ । ८७

सूत्रानुसार विशेषों का अधिकार करके जो ग्रन्थ बनाया गया, उस का नाम "वैशेषिक" रक्खा गया । अभेदवादी वा मायावादी अद्वैतियों का मत इस शास्त्र के सर्वथा प्रतिकूल है, क्योंकि भेद के विना गौ और घोड़े में विशेष नहीं हो सकता । यह दर्शन विशेषों का व्याख्यान करता है, इस लिये अद्वैतवादियों ने इस का खण्डनाऽऽभास किया है । अद्वैतसिद्धि में वैशेषिकदर्शनोक्त विशेषवाद वा भेदवाद के विरुद्ध कैसे असभ्य और कर्णकटु शब्दों में कथन किया है सो श्रीमधुसूदनसरस्वती की अद्वैतसिद्धि लिखित नीचे के श्लोक से जाना जायगा-

इह कुमतिरतत्त्वे तत्त्ववादी वराकः
प्रलपति यदऽकाण्डे खण्डनाभासमुच्चैः ।
प्रतिवचनमभुष्मै तस्य को वक्तु विद्वान्
नहि रुतमनुरौति ग्रामसिंहस्य सिंहः ॥ १ ॥

अर्थ-जो कि अवसर में अतत्त्व में तत्त्व बताने वाला बेचारा कुमति (वैशेषिकादि का अनुयायी) उच्च खण्डनाभास को बकता है, यहां कौन विद्वान् उस का उत्तर देवे, क्योंकि कुत्ते के भौंकने पर सिंह उत्तर में नहीं भौंकता ॥

धन्य हैं संसार को मिथ्या बताने वाले मिथ्यामायावादी विद्वान् जो पर मत की इतने कटु शब्दों में ईर्ष्या करते हैं । वेदान्तदर्शन का भाष्य आगे आरम्भ करने का विचार है, उस में जहां २ वैशेषिक वा अन्य शास्त्रों का तिरस्कार अद्वैतवादियों ने किया है, वहां उस का समाधान किया जायगा । इस वैशेषिकदर्शन भाषानुवाद के पढ़ने वाले इस भ्रान्ति में नहीं पड़ेंगे कि षट्दर्शनों में परस्पर खण्डन है । ईश्वर की कृपा से अब न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग-इन ४ दर्शनों का अनुवाद और भाष्य पूर्ण होगया । आशा है कि पाठक इस से भी न्यायादि के समान रुचिपूर्वक लाभ उठावेंगे ॥

तुलसीराम स्वामी

ओ३म्

व्याख्याय व्याकरणशास्त्रं तदनु च सुधियां योगशास्त्रं क्रमेण
तत्पश्चात्सांख्यशास्त्रं कपिलमुनिकृतं व्याकृतं व्याख्यया तत्।
काणादे सूत्रजाते तदनु च विमलामार्यभाषानुवादं
यं दृष्ट्वा भद्रभाग्याजिकजनहृदये ज्ञानसूर्योदयःस्यात् ॥ १ ॥

अथ वैशेषिकदर्शन-भाषानुवादः

तत्र

प्रथमोऽध्यायः

मोक्ष के असाधारण हेतुभूत तत्त्वज्ञान का उपदेश करने के लिये कणाद मुनि तत्त्वज्ञान के हेतु धर्म के व्याख्यान की प्रतिज्ञा करते हैं:—

१—अथाऽतोधर्मं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

(अथ) अब (अतः) इस से आगे (धर्मं) धर्म को (व्याख्यास्यामः) हम व्याख्यान करेंगे ॥ १ ॥ आगे धर्म का लक्षण करते हैं:—

२—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ २ ॥

(यतः) जिस से (अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः) भोग मोक्ष की सिद्धि हो (सः) वह (धर्मः) धर्म है ॥

वेदोक्त शुभकर्मानुष्ठान और तत्त्वज्ञानोपदेशक वेदादि शास्त्राभ्यास का नाम धर्म है, जिस से सांसारिक (ऐहिक) आमुष्मिक सब प्रकार के सुख भोग और अन्त में धर्मानुष्ठान से अन्तःकरण शुद्ध होने पर उपजे ब्रह्मज्ञान से निःश्रेयस=मुक्ति भी सिद्ध हो सके ॥ २ ॥

३—तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥ ३ ॥

(तद्वचनात) उस धर्म का वचन होने से (आम्नायस्य) वेदादि शास्त्र का (प्रामाण्यम्) प्रामाण्य है ॥

क्योंकि वेदादि शास्त्र धर्म का वर्णन करते हैं, इस कारण लोक उन को प्रमाण मानता है ॥

यदि वेदादि शास्त्र में अभ्युदय और मोक्ष के साधन धर्म का वर्णन न होता तो लोक उस को निरर्थक जान कर प्रमाण न करता, परन्तु वेदादि शास्त्र में धर्म का निरूपण है और धर्म मनुष्य के ऐहिक आमुष्मिक कल्याण का साधन है, इस लिये लोक वेदादिशास्त्र में प्रामाण्यबुद्धि रखता है और रखनी चाहिये भी ॥

यही बात मीमांसादर्शन १।१।२ में कही गई है कि-"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" जिस की प्रेरणा वेद आदि शास्त्र करता है, वह धर्म है। तथा मनु २।१३ में भी यही कहा है कि "धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" धर्म के जिज्ञासुओं को परम प्रमाण वेद है। मनु ४।१४ में भी कहा है कि-

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥

अर्थात् वेदप्रतिपादित स्वधर्म का अनुष्ठान निरालस्य होकर सदा करे क्योंकि यथाशक्ति उस का करने वाला परम गति (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है ॥३॥

वेदादि शास्त्रोक्त धर्म किस रीति वा क्रम से मनुष्य की मुक्ति का हेतु है, सो वर्णन करते हैं:-

४-धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ ४ ॥

(धर्मविशेषप्रसूतात्) पुण्यविशेष से उत्पन्न हुए, (द्रव्यगुणकर्मसामान्य विशेषसमवायानाम्) १-द्रव्य २-गुण ३-कर्म ४-सामान्य ५ विशेष और ६-समवाय (पदार्थानाम्) ६ पदार्थों के (साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्) साधर्म्य और वैधर्म्य से होने वाले (तत्त्वज्ञानात्) तत्त्वज्ञान से (निःश्रेयसम्) मोक्ष होता है ॥

तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है, यह फलितार्थ है। तत्त्वज्ञान का १ विशेषण 'धर्मविशेषप्रसूत' है अर्थात् वह तत्त्वज्ञान जो कि पुण्यविशेष से उत्पन्न हुआ है, २-विशेषण-विशेष्य तत्त्वज्ञान से अन्वित यह है कि "द्रव्यगुण-वैधर्म्याभ्याम् तत्त्व०" द्रव्यादि ६ पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य से तत्त्व

(याथार्थ्य) को जानना। इसी से मुक्ति होती है। द्रव्यादि छहों पदार्थों को निर्देशलक्षणपूर्वक आगे स्वयं ५ वें सूत्र से कहा है। द्रव्यादि छहों के समान धर्म वा अनुगत धर्म वा साधारण धर्म को साधर्म्य समझो, और इन के विशेष धर्म वा व्यावृत्त धर्म वा असाधारण धर्म को वैधर्म्य कहते हैं॥

बहुत लोग जिज्ञासा करेंगे कि पृथिव्यादि द्रव्य और गुण कर्मादि लौकिक पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्षसिद्धि का कथन तो एक अनोखी बात है, अन्य सब शास्त्र तो आत्मज्ञान से मोक्ष मिलना मानते हैं। इस का उत्तर यह है कि आत्मा अनात्मा के भेद से पदार्थ दो प्रकार के हैं, जब तक पृथिव्यादि अनात्म पदार्थों का तत्त्व न समझ पड़े तब तक इन से विलक्षण अतीन्द्रिय आत्मपदार्थ का तत्त्वज्ञान दुर्घट वा दुर्लभ है, इस लिये इस शास्त्र ने आत्मा और अनात्मा सभी पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्षप्राप्ति होना वर्णित किया है। आत्मतत्त्व के ज्ञान होने पर परमात्मतत्त्व का ज्ञान होता है, जिस से मोक्ष में आनन्द का अनुभव किया जाता है। न्यायादि ५ दर्शनों में यही प्रधानता से विविक्तात्मतत्त्वज्ञान का उपदेश करके मुमुक्षु को फिर वेदान्त द्वारा साक्षात् परमात्मतत्त्व का उपदेश होता है॥

वैशेषिकाचार्य कणाद मुनि जी ने द्रव्यादि छः ही पदार्थ लिखे हैं, परन्तु नवीन लोग उदयनाचार्यादि ने एक ७ वां पदार्थ अभाव भी माना है। तर्कसंग्रह से आरम्भ करने वाले इसी ७ पदार्थ के विवाद में पड़कर न्याय वैशेषिक के तत्त्व को न समझ कर वृथा वाग्जाल में फंसे रह जाते हैं। सब प्रकार के अभावपदार्थ वैशेषिक के "पृथक्त्व" नामक गुण के अन्तर्गत हैं और इसी से आचार्य ने पृथक् नहीं गिने। पृथक्त्व=अयोग=वैलक्षण्य=अनेकता; इन शब्दों का एक ही तात्पर्य है। इस लिये प्रागऽभावादि ३ अभाव तो अयोग के अन्तर्गत हैं, चौथा अन्योन्याऽभाव वैलक्षण्य के अन्तर्गत है॥

नवीन आचार्यों के वर्णित अभाव के भेदों को पाठकों के परिचयार्थ यहां लिखे देते हैं। यथा—अभाव ४ प्रकार का है। १ प्रागऽभाव, २—प्रध्वंसाऽभाव, ३—अत्यन्ताऽभाव और ४—अन्योन्याऽभाव। १—प्रागऽभाव उस को कहते हैं कि जो कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उस (कार्य) का अभाव है, यह अभाव यद्यपि अनादि है तौ भी नाशवान् है, क्योंकि घट की उत्पत्ति होने पर उस का प्रागऽभाव नष्ट होगया, नहीं रहा। इस लिये फल यह हुआ कि नाशवान् अभाव को प्रागऽभाव कहते हैं। २—प्रध्वंसाऽभाव है जो कार्य के नाश

से पश्चात् उस का अभाव है। जैसे घट के नष्ट होने पर घट का अभाव है। यह अभाव सादि अनन्त है, क्योंकि घट के नाश से पहले घट का प्रध्वंसाऽभाव न था, अतः सादि हुवा और घट के नाशक्षण से आरम्भ होकर अनन्तकाल के लिये अभाव हो गया। इस कारण यह प्रध्वंसाऽभाव सादि अनन्त हुवा। तब फलितार्थ यह निकला कि जन्य=कार्य के नाशोत्पन्न अभाव को प्रध्वंसाऽभाव कहते हैं। ३-किसी सद्वस्तु का एक देश को छोड़ कर अन्य देश में त्रैकालिक अभाव=अत्यन्ताऽभाव है। यह अनादि अनन्त है, क्योंकि यह अभाव तीनों कालों में एक सा रहता है, जो वस्तु जहां न थी न है, न होगी, उस का वहां अत्यन्ताऽभाव कहा जायगा। इस का तात्पर्य यह हुवा कि नित्यसंसर्ग के अभाव को अत्यन्ताऽभाव कहते हैं। ये तीनों अभाव अभाववादियों के मत में संसर्गाऽभाव कहाते हैं। ४-एक वस्तु का अन्य वस्तु में जो अभाव है उस को अन्योन्याऽभाव कहते हैं। जैसे घट तो पट नहीं, और पट घट नहीं। घट में पट और पट में घट के अभाव को अन्योन्याऽभाव कहेंगे। इसी को 'तादात्म्यसम्बन्धाऽवच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽभाव' भी कहते हैं। कोई लोग एक ५ वें प्रकार का अभाव भी मानते हैं, वह यह है कि-वृद्धि और क्षयवाला, समय विशेष में प्रतीत होने वाला='सामयिकाऽभाव' कहाता है। उदयनाचार्य के मत में यह अत्यन्ताऽभाव के अन्तर्गत है, परन्तु इस की प्रतीति समयविशेष में इस प्रकार समझी जाती है कि घट वाले भूभाग में घटसम्बन्ध के प्रागऽभाव और प्रध्वंसाऽभाव तो वर्तमान नहीं हैं, और अत्यन्ताऽभाव नित्य भी है तो भी घट वाले भूभाग में वृद्धिरूप्य नहीं होता, इस लिये सामयिकाऽभाव एक पांचवां जान पड़ता है। अभाव का अभाव तो भाव ही है, अन्य कुछ नहीं, जैसा कि वाचस्पतिमिश्र तात्पर्य-टीका में कहते हैं कि-" नो खल्वऽभावाऽभावोनाम कश्चिदन्योभावात, नाऽपि भावाभावोऽन्योऽभावात्।" इस को नवीन लोग तीसरा अत्यन्ता-भाव बताते हैं। परन्तु उस के प्रागऽभाव स्वरूप होने से अनवस्था दोष नहीं। सामान्याऽभाव तो विशेषाऽभावसमुदाय से भिन्न ही है, इन में सब को समानता है। अभाव क्या है? इस के उत्तर में कोई तो कहते हैं कि भाव से भिन्न अभाव है। कोई कहते हैं कि निषेधात्मक प्रतीति का विषय होना अभाव है। तथा अन्य कहते हैं कि-द्रव्यादि छः पदार्थों में से एक में दूसरे का अभाव वाला ही अभाव है। किन्हीं का कथन है कि समवाय से अन्य

असमवायी वा अनन्वित होना=अभाव है। और नवीन लोग इसको "तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्नतावच्छेदकावच्छिन्नाभावनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितानुयोगिता विशेष वाला होना" कहते हैं ॥

ऊपर लिखा नव्य मतसमानतरवाद श्री स्वामी हरिप्रसाद जी कृत वैशेषिकदर्शन वैदिक वृत्ति के आशय पर लिखा गया है ॥ ४ ॥

अब प्रथम गिनाये छः ६ पदार्थों में से पहिले द्रव्य पदार्थ के विभाग कहे जाते हैं—

५—पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥ ५ ॥

(पृथिवी) पृथिवी (आपः) जल (तेजः) अग्नि (वायुः) वायु (आकाशं) आकाश (कालः) समय (दिग्) दिशा (आत्मा) आत्मा (मनः) और मन (इति) ये (द्रव्याणि) ९ द्रव्य कहाते हैं ॥

ये नौ "द्रव्य" कुछ तत्त्ववाचक नहीं हैं, किन्तु वैशेषिक शास्त्र में "द्रव्य" संज्ञा इन ९ पदार्थों की है। सांख्य, योग, वेदान्त की परिभाषा में पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन को प्रकृति का कार्य होने से प्रकृति के अन्तर्गत माना है। जिस को यहां न्याय और वैशेषिक में 'आत्मा' कहा है उसी जीवात्मा परमात्मा (आत्मद्वय) को सांख्य में पुरुष कहा है। बहुत टीकाकारों ने इन ९ द्रव्यों में नित्य, अनित्य द्रव्यों का विभाग किया है, कोई कहते हैं कि पृथ्व्यादि ४ अनित्य, शेष नित्य हैं, कोई ३ अनित्य शेष नित्य मानते हैं, परन्तु वैशेषिक शास्त्रकार ने स्वयं नित्य वा अनित्य कुछ नहीं कहा, तब यही समझना ठीक है कि सांख्यादि अन्यशास्त्रोक्तसिद्धान्तानुसार जिस को वैशेषिक, न्याय, मीमांसामें परमाणु और सांख्य, योग, वेदान्त में प्रकृति माना है, एक वह नित्य है, दूसरा आत्मा नित्य है जिस को न्याय, वशेषिक में आत्मा, सांख्य में पुरुष, योग में चेतन वा चिति कहा है। आत्मा व पुरुष वा चिति में जीवात्मा परमात्मा दोनों का वा किसी एक का प्रकरणानुसार ग्रहण किया जाता है। शेष सब अनित्य अर्थात् प्रकृति का कार्य हैं ॥ ५ ॥

द्रव्यों का विभाग कहकर अब गुणों का विभाग कहा जाता है। यथा—

६—रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥ ६ ॥

(रूप-स्पर्शाः) १-रूप २ रस ३ गन्ध ४ स्पर्श (संख्याः) ५ संख्यायें (परिमाणानि) ६-नाप तोल आदि (पृथक्त्वम्) ७ पृथक् होना (संयोगविभागौ) ८ संयोग और ९ वियोग (परत्वाऽपरत्वे) १० परे होना और ११ वरे होना (बुद्धयः) १२ बुद्धियें (इच्छाद्वेषौ) १३ इच्छा और १४ द्वेष (च) और (प्रयत्नाः) १५ अनेक प्रयत्न (गुणाः) ये गुण हैं ॥

पं० शङ्कर मिश्रकृत वैशेषिकसूत्रोपस्कार, पं० स्वामी हरिप्रसाद जी कृत वैशेषिकसूत्रवैदिकवृत्ति और पं० आर्यमुनिकृत वैशेषिकार्यभाष्यादि नये और पुराने भी सब टीकाकारों ने सूत्रस्थ (च) शब्द से १ गुरुत्व=भारीपन २-द्रवत्व=बहने वाला पतलापन ३ स्नेह=चिकनापन ४-संस्कार=वेगादि ५ धर्म ६ अधर्म और ७-शब्द; ये ७ गुण और मानकर सूत्र में कहे १५ गुणों सहित २२ गुण माने हैं ॥

नीचे लिखी कारिकाओं में जो वै० वै०-वृत्ति में से उद्धृत हैं, कौन २ किस २ के गुण हैं, प्रकट होगा-

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः ।
स्पर्शाद्यष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः ॥ १ ॥
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च द्रवत्वं च गुरुत्वकम् ।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्द्दश ॥ २ ॥
स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्द्दश ।
बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादि-पञ्चकं भावना तथा ॥ ३ ॥
धर्माऽधर्मौ गुणा एते आत्मनः स्युश्चतुर्द्दश ।
संख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे ॥ ४ ॥
संख्यादिपञ्चकं बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे ।
परत्वाऽपरत्वे संख्यादि पञ्च वेगश्च मानसे ॥ ५ ॥

अर्थ-स्पर्शादि ८ (स्पर्श १ संख्या २ परिमाण ३ पृथक्त्व ४ संयोग ५ वियोग ६ परत्व ७ अपरत्व ८) और ९ वां वेगनामक संस्कार; ये वायु के गुण हैं । स्पर्शादि ८ और ९ रूप, १० वेग और ११ द्रवत्व अग्नि के गुण हैं ॥ १ ॥ स्पर्शादि ८ और ९ वेग १० द्रवत्व ११ गुरुत्व १२ रूप १३ रस और १४ स्नेह; ये

जल में १४ गुण हैं ॥ २ ॥ उक्त १४ जल के गुणों में से १ स्नेह को छोड़ कर शेष १३ और १४ वां गन्ध; ये १४ पृथिवी में गुण हैं। बुद्धि आदि ६ (बुद्धि १ सुख २ दुःख ३ इच्छा ४ द्वेष ५ और प्रयत्न ६) और संख्यादि ५ सब ११ तथा १२ भावना ॥ ३ ॥ १३ धर्म १४ अधर्म; ये १४ गुण आत्मा (जीवात्मा) के हैं। संख्या आदि ५ काल और दिशा के गुण हैं। तथा संख्यादि ५ और ६ शब्द, ये ६ आकाश के गुण हैं ॥ ४ ॥ संख्यादि ५ बुद्धि ६ इच्छा ७ और यत्न ८ ये ईश्वर में गुण हैं। १ परत्व २ अपरत्व ३-७ तक संख्यादि पांच और ८ वां वेग; ये मन में गुण हैं ॥ ५ ॥

कोई लोग शक्ति को भी गुण कहते हैं, कोई उस को एक प्रकार का द्रव्य कहते हैं। परन्तु वैशेषिक के अपने मत में तो जिस पदार्थ की जो शक्ति है, वह उस का स्वरूप ही है, भिन्न कुछ नहीं ॥

कोई लोग लघुत्व को एक पृथक् गुण बताते हैं, यह ठीक भी जान पड़ता है, क्योंकि जैसे संयोग और विभाग एक दूसरे के विरोधी समझ कर पृथक् २ गिने गये, इसी प्रकार गुरुत्व का विरोधी लघुत्व (भारी का विरोधी हलका) भी पृथक् गिनाने योग्य जान पड़ता है, परन्तु और गहरी बुद्धि से विचार करें तो लघुत्व (हलकापन) भी गुरुत्व के अन्तर्गत है, क्योंकि हलकी से हलकी वस्तु में भी कोई बोझ (भारीपन वा गुरुत्व) अवश्य है, न्यून गुरुत्व ही तो अपेक्षाकृत लघुत्व भी हुवा, भिन्न नहीं ॥

तथा मृदुत्व=नर्मी, कठिनत्व=सख़्ती=कड़ापन, ये दोनों गुण इस लिये नहीं गिनाये गये कि अवयवों के संयोगविशेषरूप हैं, पृथक् नहीं ॥

शूरता, उदारता, दया, चातुर्य, उग्रता इत्यादि अन्य गुण भी प्रयत्नादि के अन्तर्गत होने से पृथक् नहीं गिनाये गये। क्योंकि बलवान् शत्रु के भी पराजय करने को यत्न करना शूरता है, जो यत्न के अन्तर्गत हुई। सदा सन्मार्ग में रहने वाली बुद्धि ही उदारता है। पराये दुःख दूर करने की इच्छा ही दया है तत्व के भीतर प्रवेश करने वाली बुद्धि ही चातुर्य है। अपने में उन्नतता की बुद्धि ही उग्रता है। इस प्रकार देखा जावे तो शूरतादि सब प्रयत्नादि से पृथक् गिनाने योग्य नहीं ॥ ६ ॥ अब कर्म के विभाग कहे जाते हैं-

७-उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं
गमनमिति कर्माणि ॥ ७ ॥

(उत्क्षेपणम्) ऊपर को उठाना (अवक्षेपणम्) नीचे को दबाना (आकुञ्चनम्) सिकोड़ना (प्रसारणम्) फैलाना और (गमनम्) चलना; ये ५ (कर्माणि) कर्म हैं ॥ ७ ॥ द्रव्यों, गुणों और कर्मों का विभाग कह कर अब द्रव्य गुण, कर्म का साधर्म्य किन बातों में है, सो कहते हैं:-

८-सदऽनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामऽविशेषः ॥ ८ ॥

(सत्) सत्ता वाला होना (अनित्यम्) होकर न रहने वाला होना (द्रव्यवत्) किसी समवायी द्रव्य वाला होना (कार्यम्) उत्पन्न होने वाला होना (कारणम्) किसी का उत्पादक होना (सामान्यविशेषवत्) किसी से समानता और किसी से विशेषता वाला होना (इति) यह (द्रव्यगुणकर्मणाम्) द्रव्यों, गुणों और कर्मों का (अविशेषः) सामान्य वा साधर्म्य है ॥

प्र०-आत्मा भी तो द्रव्य है, तब क्या वह भी इस सूत्र के अनुसार अनित्य है? उ०-इस सूत्र में सभी द्रव्यों वा सभी गुणों का साधर्म्य वा सामान्य नहीं कहा गया है, किन्तु जिन २ में संभव है, उन २ का विवक्षित है। क्योंकि यदि सूत्रकार अनित्य न कह कर नित्य कहते तो कर्म के नित्य न होने से उस से साधर्म्य कहना अयुक्त होता। वास्तव में न तो सब द्रव्य अनित्य हैं, न सब गुण अनित्य हैं, कोई द्रव्य नित्य हैं, कोई अनित्य हैं जो नित्य हैं, उन के गुण भी नित्य हैं। जैसे आत्मा नित्य है, उस का बुद्धि (चेतना=ज्ञान) गुण भी उस का समवायी साथी नित्य है। जो मन आदि द्रव्य अनित्य हैं, उन के गुण भी अनित्य हैं। बस इस सूत्र में जो अनित्य शब्द है, वह द्रव्यमात्र की अनित्यता का बोध नहीं कराता, किन्तु जो अनित्य हैं, उन का अनित्य गुणों तथा अनित्य (अवश्य अनित्य) कर्मों से साधर्म्य है। जो नहीं, उन का साधर्म्य भी नहीं। जिन २ द्रव्यों में अनित्यता है, उन का कर्मों और गुणों से साधर्म्य होता है, केवल इतना ही विवक्षित है। इसी बात को स्वामी श्री हरिप्रसाद जी ने वैदिकवृत्ति में और आर्यमुनि जी ने आर्यभाष्य में तो स्वीकार किया ही है, किन्तु इन से पुराने श्री शङ्कर मिश्र ने भी अपने वैशेषिकसूत्रोपस्कार में लिखा है कि-

"अनित्यमिति ध्वंसप्रतियोगित्वं यद्यपि न परमाण्वादिसाधारणं तथापि ध्वंसप्रतियोगिवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं विवक्षितम्" ॥ ८ ॥

अब केवल द्रव्य और गुण में कितना साधर्म्य हो जाता है, सो बताते हैं:-

९-द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥ ९ ॥

(द्रव्यगुणयोः) द्रव्यों और गुणों में (सजातीयारम्भकत्वम्) अपने सजातीयों को बनाने वाला होना (साधर्म्यम्) सामान्य है ॥ ९ ॥ अर्थात्-

१०-द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥ १० ॥

(द्रव्याणि) द्रव्य (द्रव्यान्तरम्) दूसरे द्रव्य को (आरभन्ते) अपने में से बनाते हैं (च) और (गुणाः) गुण (गुणान्तरम्) अन्य गुण को [बनाते हैं]॥

यद्यपि ८ वें सूत्र में कहे "अविशेष" शब्द की अनुवृत्ति से ही सूत्र ९ में साधर्म्य का अर्थ चल जाता, परन्तु अविशेष का और भी स्पष्ट करने के लिये तथा वाक्य के लालित्य प्रकाशनार्थ दूसरे शब्द "साधर्म्य" का प्रयोग आचार्य ने किया जान पड़ता है, जैसा कि आचार्य ने ९ वें सूत्र के भाष्यरूप इस १० वें सूत्र को लिख दिया है ॥ १० ॥

तो जिस प्रकार द्रव्यों से द्रव्य बनते हैं, इसी प्रकार क्या कर्मों से कर्म भी बनते हैं ? उत्तर-

११-कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ॥ ११ ॥

(कर्मसाध्यं) जिस का कर्म साध्य हो वह (कर्म) कर्म (न) नहीं (विद्यते) है ॥

ऐसा कर्म कोई नहीं है जिस से कर्मान्तर बनता हो क्योंकि 'कर्म' उत्पन्न होते ही 'विभाग' को उत्पन्न करता है, तो फिर वह स्वयं उत्पन्न कर्म किसी अन्य कर्म को क्या उत्पन्न करेगा ?

प्रश्न-एक वार कन्दुक (गेंद) को पृथिवी पर गद्दा देते हैं, वह एक कर्म है, फिर गेंद उछल कर पृथिवी पर गिरती और फिर उछलती है, तब क्या उछलना कर्म, कर्म से ही उत्पन्न नहीं हुवा ? यदि हुवा तो कर्मसाध्य कर्म क्यों नहीं ? उत्तर-गेंद को गद्दा देकर उस में वेगाख्य संस्कार उत्पन्न किया गया था, संस्कार गुणों में है, कर्मों में गिना नहीं गया, उस वेग ने कर्म उत्पन्न किया, न कि कर्म ने कर्मान्तर ॥ ११ ॥

द्रव्यों, गुणों और कर्मों का साधर्म्य कह कर अब गुणों, कर्मों और द्रव्यों का वैधर्म्य कहते हैं-

१२-न द्रव्यं कार्यं कारणं च वधति ॥ १२ ॥

(कार्यं) कार्य (च) और (कारणं) कारण (द्रव्यं) द्रव्य को (न) नहीं (वधति) नष्ट करता ॥

कोई कार्य कार्यद्रव्य का नाश नहीं करता, और कोई कारण, कारण द्रव्य का नाश नहीं करता । 'वधति' यह आर्ष प्रयोग 'हिनस्ति' के स्थान में है ॥ १२ ॥

अब गुणों का प्रकार बताते हैं-

१३-उभयथा गुणाः ॥१३ ॥

(गुणाः) गुण (उभयथा) दोनों प्रकार के हैं ॥

अर्थात् गुणों में दोनों प्रकार हैं, ये कार्य का नाश भी करते हैं, तथा कारण का भी । जैसे शब्द एक गुण है; उस पहले शब्द को उस का कार्य (दूसरा शब्द) नष्ट कर देता है । और अन्त के शब्द को उस का कारण वही उपान्त्य (अन्त से पूर्वला) शब्द नष्ट कर देता है ॥ १३ ॥

प्रश्न-और कर्म कैसा होता है ? उत्तर-

१४-कार्यविरोधि कर्म ॥ १४ ॥

(कार्यविरोधि) जिस का विरोधी कार्य हो, ऐसा (कर्म) कर्म है ॥

कोई कर्म ऐसा नहीं होता जिस का नाश उस के कार्य से न हो जाय । सभी कर्म अपने कार्य से नष्ट होजाते हैं । क्योंकि कर्म, विभाग को उत्पन्न करके और अगले संयोग को उत्पन्न करके अवश्य स्वयं नष्ट होजाता है ॥ १४ ॥

प्रश्न-जिस द्रव्य का यह प्रकार कहा गया कि उस को न तो कार्य नष्ट करता, न कारण, उस (द्रव्य) का लक्षण क्या है ? उत्तर-

१५-क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥१५॥

जो (क्रियागुणवत्) क्रिया वाला और गुणों वाला हो, (समवायि कारणं) संग रहने वाला कारण हो (इति) यह (द्रव्यलक्षणम्) द्रव्य का लक्षण=पहचान है ॥

यदि-एकला क्रिया वाला कहते तो आकाश क्रिया वाला नहीं, तब उस में अव्याप्ति दोष आता, इस लिये दूसरा लक्षण गुणों वाला कहा गया और नैयायिक कहते हैं कि " जायमानं हि द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति "=कार्य द्रव्य

जब उत्पन्न होते हैं उस क्षण में गुणरहित होते हैं, तब उत्पद्यमान घटादि कार्य द्रव्यों में उस क्षण भर को गुण वाला न होने से लक्षण अव्याप्त रहता, इस कारण तीसरा विशेषण 'समवायिकारण' लिखा गया। क्योंकि उत्पद्यमान घटादि भी अपने उत्पत्स्यमान गुणों के प्रति समवायिकारण होते हैं॥

किसी एक लक्ष्य में लक्षण का न घटना अव्याप्ति दोष कहाता है। लक्ष्य से अन्यत्र भी लक्षण का घट जाना अतिव्याप्ति कहाता है तथा लक्ष्य मात्र में ही लक्षण का सर्वथा न घटना असंभव कहाता है। ये तीनों दोष न हों, तब निर्दोष लक्षण होता है। द्रव्य का लक्षण जो इस सूत्र में कहा है, तीनों दोषों से रहित ठीक है॥ १५॥ अब गुण का लक्षण करते हैं:-

१६-द्रव्याश्रय्यऽगुणवान् संयोगविभागेष्वकारण मऽनपेक्ष इति गुणलक्षणम्॥ १६॥

जो (द्रव्याश्रयी) द्रव्य के आश्रय वाला हो, (अगुणवान्) अन्य गुणों वाला न हो, (संयोगविभागेषु) संयोगों और विभागों में (अनपेक्षः) अपेक्षा रहित (अकारणम्) कारण न हो, (इति) यह (गुणलक्षणम्) गुण का लक्षण है॥

गुण उन को कहते हैं जो किसी द्रव्य का आश्रय अवश्य करते हों, द्रव्य के विना कहीं न पाये जाते हों, तथा जैसे गुण किसी द्रव्य का गुण है, वैसे गुण का गुण कोई न हो और जैसे कर्म, संयोग विभागों का सापेक्ष कारण होता है, वैसा न हो अर्थात् गुण, संयोग विभागों को उत्पन्न नहीं करता है। यह गुण का लक्षण है। यद्यपि सामान्यादि भी गुणों में रहते हैं परन्तु सामान्य, विशेष को आचार्य ने स्पष्ट भिन्न पदार्थ कह कर छः पदार्थ गिनाये हैं, जिस से प्रतीत होता है कि आचार्य भी यह भाव रखते थे कि द्रव्यादि पदार्थ और सामान्यादि उपपदार्थ हैं॥ १६॥

आगे कर्म का लक्षण करते हैं:—

१७-एकद्रव्यमऽगुणं संयोगविभागेष्वन-पेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्॥ १७॥

जो (एकद्रव्यम्) एक द्रव्य वाला हो, अनेक द्रव्याश्रयी न हो, (अगुणम्) जो गुणवान् न हो, (संयोगविभागेषु) संयोगों और विभागों में (अनपेक्षकारणम्) निरपेक्ष स्वतन्त्र कारण हो, (इति) यह (कर्मलक्षणम्) कर्म का लक्षण है॥

कर्म जब स्वयं उत्पन्न होता है तब किसी न किसी संयोग और विभाग को उत्पन्न करता है, और संयोग विभागों के उत्पादन में यद्यपि कर्म, समवायि द्रव्य की और पूर्व संयोग के नाश की अपेक्षा रखता है तथापि न तो वह द्रव्य, कर्म की उत्पत्ति के पश्चात् उत्पन्न होता, न पूर्व संयोगनाशभाव है, इस कारण संयोग विभागों में निरपेक्ष कारण ही है ॥ १७ ॥

अब इन द्रव्य गुण कर्मों का साधर्म्य बतलाते हैं:-

१८-द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥ १८ ॥

(द्रव्य-णाम्) द्रव्यों, गुणों और कर्मों का (द्रव्यं कारणं) द्रव्य कारण होता है (सामान्यम्) यह समानता है ॥

द्रव्य गुण कर्म तीनों एक द्रव्य के आश्रय रहते हैं, यही इन तीनों का साधर्म्य वा सामान्य है ॥ १८ ॥

१९-तथा गुणः ॥ १९ ॥

(तथा) इसी प्रकार (गुणः) गुण है ॥

जिस प्रकार द्रव्य गुण कर्मों का कारण एक द्रव्य होता है, इसी प्रकार गुण भी उन तीनों का कारण होता है। यथा कारण द्रव्यों का 'संयोग'= गुण, कार्य द्रव्य का कारण हुवा, कार्य रूपादि गुणों का कारण भी कारण रूपादि हुवे और गुरुत्वादि गुण, उत्क्षेपणादि कर्मों का कारण हुवे, इस प्रकार सब द्रव्य गुण कर्मों का कारण कोई न कोई गुण हुवा। यह भी द्रव्य-गुण कर्मों का गुण के साथ साधर्म्य है ॥ १९ ॥

अब और भी साधर्म्य कहते हैं:-

२०-संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥ २० ॥

(संयो-नाम्) संयोग, विभाग और वेगों का [कारण] (कर्म) कर्म है (समानम्) यह समान है ॥

संयोगों का कारण कर्म है, विभागों का कारण भी कर्म है और वेगों का कारण भी कर्म है। इस बात में संयोग, विभाग, वेग; तीनों समान हैं कि उन तीनों का कारण एक कर्म है। यही इन तीनों का साधर्म्य है ॥ जैसे बाण आदि में संधानादि=कर्म ही बाण से धनुष् के संयोग का कारण हुवा, प्रत्यञ्चा का खींचना (कर्म), बाण से धनुष् के वियोग का कारण हुवा, तथा

बाण में वेग के उत्पादन करने से वेग का भी कारण हुआ। इस प्रकार संयोग, विभाग और वेग का कारण कर्म है ॥ २० ॥

यदि कहो कि संयोग, विभाग और वेग; इन तीन का ही क्यों, द्रव्यों का कारण भी तो कर्म है, सो सूत्र में क्यों न कहा ? तो उत्तर—

२१—न द्रव्याणां कर्म ॥ २१ ॥

(द्रव्याणां) द्रव्यों का [कारण] (कर्म) कर्म (न) नहीं होता ॥ २१ ॥ क्योंकि—

२२—व्यतिरेकात् ॥ २२ ॥

(व्यतिरेकात्) अभाव होने से ॥

द्रव्यों की उत्पत्ति के समय कर्म व्यतिरिक्त (अभावप्राप्त) होता है। क्योंकि कर्म ही द्रव्य के आरम्भ करने वाले संयोग को उत्पन्न करके स्वयं प्रध्वंसाऽभाव को प्राप्त हो जाता है, फिर संयोग उस द्रव्य का कारण हो, पर कर्म साक्षात् किसी कार्य द्रव्य का कारण नहीं बन सकता। यद्यपि कर्म संयोग का कारण और संयोग कार्यद्रव्योत्पत्ति का कारण हो, इस प्रकार परम्परा से चाहे कर्म कारण रहो, परन्तु साक्षात् नहीं। यही सूत्रकार की विवक्षा है ॥ २२ ॥

कारण का सामान्य कह कर अब कार्य का सामान्य कहते हैं:—

२३—द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् ॥ २३ ॥

(द्रव्याणां) द्रव्यों का (द्रव्यं) द्रव्य (कार्यं) कार्य होता है, यह (सामान्यं) समानता है ॥

जिस प्रकार द्रव्यों का कारण द्रव्य होते हैं, इसी प्रकार द्रव्यों का कार्य भी द्रव्य होते हैं, यह सामान्य है ॥ जैसे घट दो कपालों का कार्य द्रव्य है, पट तन्तुओं का कार्य द्रव्य है ॥ २३ ॥

प्रश्न-तो क्या जिस प्रकार गुण द्रव्यों का आश्रय करते हैं, उसी प्रकार कर्म भी द्रव्यों का आश्रय करते हैं, तब जैसे गुणों का कार्य गुण होना सामान्य है, वैसे कर्मों का कार्य कर्म हो, यह सामान्य भी है ? उत्तर-नहीं ? क्योंकि—

२४—गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म ॥ २४ ॥

(गुणवैधर्म्यात्) गुण की विरुद्धता से (कर्मणां) कर्मों का (कर्म) कर्म [कार्य हो, यह सामान्य] (न) नहीं है ॥

गुणों का साधर्म्य यह है कि वे सजातीय गुणान्तर के आरम्भक (कारण) होते हैं, जहां इस का विरोध हो, वह वैधर्म्य होगा, अथवा गुणों का साधर्म्य यह है कि वे द्रव्याश्रयी होते हैं, इस के विरुद्ध कर्मपन को वैधर्म्य कहेंगे। इस लिये कर्मों का कार्य कर्म नहीं होते। अर्थात् यद्यपि द्रव्याश्रयत्व से कर्म को कर्मान्तर से समानता है, तो भी जैसे कारणगुण रूपादिक, अपने कार्य रूपादि का आरम्भ करते हैं, वैसे अवयव के कर्म अवयवी में कर्मादिक नहीं होते। यह बात पूर्व सूत्र ११ वें में कह भी आये थे, तथापि यहां पुनरुक्ति दोष इस कारण नहीं मानना चाहिये कि ११ वें सूत्र में कारण सामान्य का निषेध किया था, और इस सूत्र में कार्य सामान्य का निषेध करते हैं॥ २४॥

द्रव्यों का कार्य द्रव्य कह कर अब द्रव्यों का कार्य जो कईएक गुण हैं, उन का कथन करते हैं:-

२५-द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च ॥ २५॥

२३ वें सूत्र में से " द्रव्याणां, कार्यं " की अनुवृत्ति चली ही आती है (द्वित्वप्रभृतयः) द्वित्वादि (संख्याः) संख्यायें, (पृथक्त्वसंयोगविभागाः) पृथक्त्व, संयोग और विभाग (च) भी [द्रव्यों का कार्य हैं, यह सामान्य है]॥

एकत्व संख्या तो किसी द्रव्य का कार्य नहीं, क्योंकि एकत्व तो सभी में अनुगत होने से किसी का कार्य नहीं हो सकती, हां द्वित्व त्रित्व आदि संख्यायें अनेक द्रव्यों के मेल से उत्पन्न होती है, अतः वे द्रव्यों का कार्य होती हैं, तथा पृथक् होना, जुड़ना, और बिछुड़ना; ये भी द्रव्यों के कार्य हैं॥ २५॥

तो क्या जिस प्रकार द्वित्वादि, द्रव्यों का कार्य हैं, वैसे कर्म भी हैं?

उत्तर-नहीं, क्योंकि—

२६-असमवायात्सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते ॥ २६ ॥

(असमवायात्) समवाय सम्बन्ध न होने से (कर्म) कर्म (सामान्यकार्यं) सामान्य कार्य (न) नहीं (विद्यते) है॥

कर्मों का द्रव्यों से समवाय सम्बन्ध नहीं, अर्थात् नित्य संबन्ध नहीं, इस लिये कर्म द्रव्यों के कार्य सामान्य में नहीं गिनाये जा सकते॥ २६॥

२७-संयोगानां द्रव्यम् ॥ २७ ॥

(संयोगानां) संयोगों का (द्रव्यम्) द्रव्य [कार्य सामान्य होता है]॥
संयोगों से कार्य द्रव्य बनते हैं। यह स्पष्ट ही है॥

२८–रूपाणां रूपम्॥ २८॥

(रूपाणां) रूपों का (रूपं) रूप [कार्य सामान्य है]॥

इसी से यह भी समझ लेना चाहिये कि जिस प्रकार कारण रूपों का कार्य सामान्य कार्य रूपों में है, इसी प्रकार रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक, द्रवत्व, एकत्व, पृथक्त्व, परिमाण, वेग, स्थितिस्थापक, और गुरुत्व; इन सब कारणों का कार्य सामान्य अपने २ कार्य रसादि में है॥ २८॥

यह कह कर कि गुणों का गुण एक कार्य सामान्य है, अब यह कहते हैं कि गुणों का एक कर्म कार्य-सामान्य है। यथा–

२९–गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम्॥ २९॥

(गुरु–नां) गुरुत्व, प्रयत्न और संयोग, इन का (उत्क्षेपणं) एक उत्क्षेपण नामक कर्म [कार्य सामान्य है]॥

उत्क्षेपण=उछाल को कहते हैं, जो गुरुत्व= वज़न, प्रयत्न=हरकत और संयोग से उत्पन्न होता है। यह स्पष्ट ही देखा जाता है॥ २९॥

गुणों का कार्य कह कर अब कर्मों का कार्य कहते हैं:–

३०–संयोगविभागाश्च कर्मणाम्॥ ३०॥

(संयोगविभागाः) संयोग, विभाग (च) और वेग (कर्मणां) कर्मों का [कार्य सामान्य हैं]॥

च शब्द से आचार्य ने वेग का समुच्चय किया जान पड़ता है क्योंकि कर्म से ही संयोग विभाग और वेग उत्पन्न होते हैं॥ ३०॥

यदि कहो कि जब संयोगविभागादिक ही कर्म का कार्य हैं, द्रव्य और कर्म नहीं, तब यही क्यों न कह दिया कि " संयोग और विभाग तो कर्मों के कार्य हैं, द्रव्य और कर्म नहीं ", तो उत्तर–

३१–कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माऽकारणमुक्तम्॥ ३१॥

(कारणसामान्ये) कारण की समानता में (कर्म) कर्म को (द्रव्यकर्मणाम्) द्रव्यों और कर्मों का (अकारणम्) कारण न होना (उक्तम्) कहा है॥

पूर्व सूत्र २१ में-"न द्रव्याणां कर्म" और ११ में-"कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते" कह चुके हैं, जिन का तात्पर्य यही है कि न तो कर्म कर्मों का कारणकार्य-भाव होता, न द्रव्यों का कारण कर्म होता। इस लिये यहां उस के पुनर्वार कहने की आवश्यकता नहीं ॥ ३१ ॥

श्री स्वामी हरिप्रसाद जी का श्लोक इस आन्हिक का संक्षिप्त आशय बताने और याद रखने में बड़ा उपयोगी है। इस लिये उस को ज्यों का त्यों उद्धृत करता हूं कि पाठक लाभ उठावें-

"मेयोद्देशो विभागोऽथ सामान्यं च विशेषकम्।
अर्थस्य लक्षणं चास्मिन्नान्हिके संप्रकीर्त्तितम् ॥ १ ॥"

अर्थात् इस आन्हिक में प्रमेय पदार्थों के नाम और विभाग, सामान्य और विशेष और अर्थ का लक्षण वर्णन किया गया ॥

इति प्रथमाऽध्यायस्य प्रथममान्हिकम् ॥

अथ प्रथमाऽध्याये
द्वितीयमान्हिकम्

पूर्व आन्हिक में यह तो कहा गया कि द्रव्य गुण कर्म का कारण सामान्य यह है, कार्य सामान्य यह है, परन्तु कार्य कारण का स्वरूप नहीं बताया गया, इस कारण कारण कार्य सामान्य का समझना कठिन रहा, उस को सरल करने के लिये इस आन्हिक में कार्य कारण स्वरूपादि का ही वर्णन आरम्भ करते हैं:-

३२-कारणाऽभावात्कार्याऽभावः ॥ १ ॥

(कारणाभावात्) कारण के अभाव से (कार्याभावः) कार्य का अभाव होता है ॥

अन्य सामग्री के होते हुवे भी जिस के अभाव में जो न हो सके वह उस का कारण (उपादान) होता है तथा वह स्वयं कार्य कहाता है, यह कार्यकारण का स्वरूप बताया गया अर्थात् यह निश्चल नियम है कि कारण के विना कार्य नहीं हो सकता। कारण हो तभी कार्य हो सकता है। इस लिये जिस पूर्व वर्त्तमान पदार्थ के भाव से उत्तर भावी पदार्थ का भाव हो सके, वही पूर्ववृत्ति पदार्थ उस उत्तरवर्त्ती पदार्थ का कारण कहावेगा और

उत्तरवर्ती कार्य कहावेगा। यह कार्य कारण का स्वरूप है। जैसे बीज कारण और अङ्कुर कार्य है ॥ १ ॥

२३–न तु कार्याऽभावात्कारणाऽभावः ॥ २ ॥

(तु) परन्तु (कार्याऽभावात्) कार्य के अभाव से (कारणाऽभावः) कारण का अभाव (न) नहीं होता ॥

जिस प्रकार कारण के अभाव में कार्य हो नहीं सकता, इसी प्रकार कार्य के अभाव में कारण भी न हो, यह नियम नहीं। मिट्टी के अभाव में घड़ा तो अवश्य न होगा, परन्तु घड़े के अभाव में मिट्टी का अभाव आवश्यक नहीं। मिट्टी (कारण), घड़े (कार्य) के विना भी होती है ॥ २ ॥

द्रव्य गुण कर्मों के लक्षण और स्वरूप को समझने के लिये उन का परस्पर साधर्म्य, वैधर्म्य भी कहा गया। कार्य क्या है, कारण क्या है, यह भी भले प्रकार बताया गया। अब अध्याय १ सूत्र ४ चतुर्थोक्त क्रम से द्रव्य गुण कर्म से अगले सामान्य और विशेष के लक्षण और परीक्षा को आगे कहना चाहते हुये आचार्य, इस विषय में अनेक वादियों की विप्रतिपत्तियें जानकर प्रथम सामान्य विशेष के होने में प्रमाण कहते हैं:–

२४–सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यऽपेक्षम् ॥ ३ ॥

(सामान्यं) सामान्य (विशेषः) विशेष (इति) यह दोनों (बुद्ध्यपेक्षम्) समझ की अपेक्षा से हैं ॥

द्रव्यादि पदार्थों में एक दूसरे से भेद होने पर जो हमारी समझ में समानता आती है, वही सामान्य पदार्थ है। जैसे द्रव्य सत् है, गुण भी सत् है, कर्म भी सत् है, तीनों में सत्ता (होना) समान है, बस यही उन में सामान्य है। अब द्रव्य से गुण में भेद करने वाले लक्षण जैसे (अगुणवान्) गुणान्तर रहित होना, यह द्रव्य से गुण का विशेष है, इसी से हम समझते हैं कि द्रव्य और गुण भिन्न २ दो पदार्थ हैं। इसी प्रकार कर्म में सत्तामात्र के सामान्य रहते भी अध्याय १ सूत्र १७ की विशेषता कि एक द्रव्य वाला, गुणरहित, संयोग विभाग में निरपेक्ष कारण होना कर्म की विशेषता (विशेष) है, जिन से हम कर्म को द्रव्यादि से पृथक् समझते हैं। यह जो हमारी समझ है, यही

सामान्य विशेष पदार्थ के होने में प्रमाण है ॥

जो कि व्यावहारिक नित्य समानता अनेक व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से वर्त्तमान है, उसी को वैशेषिक दर्शन का लाक्षणिक सामान्य जानिये, जो कि भिन्न २ वस्तुओं में समान बुद्धि को उत्पन्न करता है। इस से अतिरिक्त जो एक पदार्थ से दूसरे के भेद की बुद्धि को उत्पन्न करता है, वह विशेष है। जैसे एक स्थान में चार मनुष्य बैठे हैं, उन चारों में मनुष्यपना एकसा वा समान है, उस समानता की पहचान कराने वाला जो पदार्थ है, वही यहां वैशेषिकदर्शन में "सामान्य" कहाता है। अब उन्हीं चारों में एक बालक है, दूसरा युवा है, तीसरा वृद्ध है और चौथा रोगी है। तो वह पहचान जिस से कि एक को बालक, दूसरे को युवा, तीसरे को वृद्ध और चौथे को रोगी समझते हैं, जिस से हम बालक को युवा नहीं समझते, युवा को वृद्ध नहीं समझते, वा वृद्ध को रोगी भी नहीं समझते, इस पहचान का कराने वाला, बालक से युवा, युवा से वृद्ध और वृद्ध से रोगी के भेद को जताने वाला जो कोई पदार्थ है, वही वैशेषिक दर्शन में विशेष कहाता है। इस प्रकार विशेष में सामान्य व्यापक हुआ करता है, परन्तु विशेष व्याप्य हुआ करता है, जैसे बालक होने पर भी और युवा से भिन्न होने पर भी मनुष्यपना दोनों में पाया जाता है, बालक भी मनुष्य है, युवा भी मनुष्य है, वृद्ध भी मनुष्य है और रोगी भी मनुष्य है, परन्तु बालक, युवा नहीं, युवा वृद्ध नहीं, वृद्ध रोगी नहीं, अब बालकत्व युवत्व वृद्धत्व और रोगित्व तो विशेष कहावेगा, तथा मनुष्यत्व सामान्य है ॥

इस सामान्य विशेष को बुद्ध्यपेक्ष इस लिये कहा है कि जो पदार्थ एक बुद्धि की अपेक्षा सामान्य कहा है, वही दूसरी बुद्धि की अपेक्षा विशेष भी बनजाता है। जैसे जो मनुष्यपना बाल युवा वृद्ध में सामान्य है, वही मनुष्यपना, पशुपने वा पक्षिपने में विशेष भी है। बालक, युवा, वृद्ध और रोगियों में हमारी बुद्धि मनुष्यत्व को समान जानती थी, परन्तु मनुष्य, पशु, पक्षियों में, जहां तीनों हों, वहां हमारी बुद्धि पशु और पक्षियों से मनुष्य को भिन्नता से पहचानने के लिये व्यावर्त्तक=विशेष निश्चित करती है। इस लिये सामान्य और विशेष प्रति नियत पदार्थ नहीं, किन्तु बुद्ध्यपेक्ष हैं। क्योंकि जो कुछ एक वस्तु की दूसरे वस्तु के साथ समानता है, वही एक

तीसरे वस्तु के साथ विषमता भी होती है, विषमता और विशेष एक ही बात है, जो बुद्धिकृत अपेक्षा से है ॥

इस विषय में "समानप्रसवात्मिका जातिः" इस न्याय सूत्रानुसार कदाचित् कोई लोग सामान्य का अर्थ सजातीयता समझें, इस कारण हम उदयनाचार्य की एक कारिका वैशेषिकदर्शन वैदिक सूत्रवृत्ति से उठा कर रखते हैं, जिस से कई प्रकार का सामान्य भी जाति होने में बाधक ज्ञात होता है। यथा-

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथाऽनवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥ १ ॥

इतने कारण जाति के बाधक संगृहीत हैं। १- यह कि व्यक्ति का भेद (भिन्नदेशवर्ती) न होगा। जैसे काल, दिशा, आकाश, तीनों एक दूसरे से व्यक्ति में भिन्न नहीं, इस लिये काल दिशा आकाश एक जाति नहीं। २- यह कि सर्वथा तुल्य होगा, जैसे घट और कलश एक जाति नहीं, प्रत्युत एक ही वस्तु हैं, केवल नाममात्र का अन्तर है। ३- यह कि एक धर्म का दूसरे धर्म से अत्यन्त अभाव हो, परन्तु एक द्रव्य के ही आश्रय दोनों धर्म हों, इस को संकर कहते हैं। यह भी जातिबाधक है। जैसे भूतपना और मूर्त्तपना जाति नहीं। यद्यपि एक ही द्रव्य (पृथिवी वा जल आदि) में आश्रय रखने वाले दोनों धर्म हैं। पृथिवी भूत भी है, मूर्त भी है, तथापि भूतत्व और मूर्त्तत्व एक जाति नहीं। क्योंकि भूतत्व से रहित मूर्त्तत्व 'मन' में है। मूर्त्तत्व से रहित भूतत्व आकाश में है और पृथिवी जल अग्नि में भूतत्व मूर्त्तत्व दोनों इकट्ठे हैं। ४- यह कि अनवस्था होगा, जैसे सामान्यों में एक दूसरा सामान्य मानने लगें और फिर उस में एक तीसरा सामान्य मानने लगें तो यह अनवस्था (तसलसुल) होगी, जो जाति नहीं। ५- यह कि रूप की हानि। जैसे विशेष पदार्थ में विशेषत्व कोई जाति नहीं, क्योंकि यह तो स्वरूप से व्यावर्त्तक होता है। ६- यह कि संबन्ध न होगा। जैसे समवाय होना कोई जाति नहीं, क्योंकि एक समवाय में कोई दूसरा समवाय माना नहीं गया ॥

जाति आदि कई शब्द जो इस व्याख्यान में आये हैं उन का अर्थ बताये देते हैं। नित्य होते हुवे अनेकों में समवाय होना=सामान्य। अपने पदार्थ के भेदक स्वभाव वाला होना=विशेष। नित्य सम्बन्ध=समवाय। शब्द का समवायी कारण होना=आकाशत्व। व्यतीत आदि व्यवहार का हेतु

होना=काल । पूर्व पश्चिमादि व्यवहार का हेतु होना दिशापन है ॥ नाम लेकर किसी पदार्थ का कथन करना=उद्देश है । और विभाग भी एक प्रकार का उद्देश ही है, उस में भी नाम ही गिनाये जाते हैं । उद्दिष्ट पदार्थ के निजस्वरूप को बताने वाला असाधारण धर्म लक्षण है । लक्षित में लक्षण घटता है वा नहीं, इस बात को प्रमाणों से परखना=परीक्षा है । पृथिवी, जल, तेज, वायु, और आकाश, ये ५ भूत हैं । चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य विषय वाला होना=भूतत्व है । जैसे आंख से ग्राह्य रूप का भूत=तेज । नाक से ग्राह्य गन्ध का भूत= पृथिवी । कान से ग्राह्य शब्द का भूत=आकाश । त्वचा से ग्राह्य स्पर्श का भूत=वायु और रसना से ग्राह्य रस का भूत जल है ॥ ३ ॥

३५-भावोनुवृत्तेरेव हेतुत्वात्सामान्यमेव ॥ ४ ॥

(भावः) सत्ता (अनुवृत्तेः)अनुवृत्ति के (एव) ही (हेतुत्वात्) हेतु होने से (सामान्यम्) सामान्य (एव) ही है ॥

सब ही पदार्थ किसी की अपेक्षा से सामान्य हैं, तो दूसरे की अपेक्षा से विशेष भी हैं, परन्तु भाव= सत्ता=होना एक ऐसा पदार्थ है जिस को सामान्य ही कह सक्ते हैं, विशेष नहीं, क्योंकि वह अनुवृत्ति का ही हेतु है, व्यावृत्ति का नहीं । और विशेष कहते हैं व्यावर्त्तक हेतु को । सत्ता तो अनुवृत्ति बुद्धि के अतिरिक्त कभी व्यावृत्ति की प्रतीति कराती ही नहीं । इसलिये सामान्य ही है, विशेष नहीं ॥४॥

३६-द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च ॥५॥

(द्रव्यत्वं) द्रव्यत्व (गुणत्वं) गुणत्व (च) और (कर्मत्वं) कर्मत्व (सामान्यानि) ये सामान्य हैं (च) और (विशेषाः) विशेष भी ॥

द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्वादि, सत्ता की अपेक्षा विशेष हैं, परन्तु पृथिवीत्वादि की अपेक्षा से सामान्य हैं । क्योंकि सत्ता से अधिकदेशवर्त्ती तो कोई है ही नहीं, इसलिये भाव वा सत्ता से सब विशेष हैं, परन्तु जो द्रव्यत्व द्रव्य सामान्य में है, वही द्रव्यत्व अपने एक विभाग पृथिवीत्वादि में भी है, इसलिये द्रव्यत्व सामान्य भी हुवा । इसी प्रकार गुणत्व और कर्मत्व को समझिये ॥ ५ ॥

३७-अन्यत्राऽन्त्येभ्योविशेषेभ्यः ॥ ६ ॥

(अन्त्येभ्यः) अन्त में होने वाले (विशेषेभ्यः) विशेषों से (अन्यत्र) अन्यत्र [पूर्वसूत्रकृत नियम है] ॥

पूर्व सूत्र में जो द्रव्यत्वादि को सामान्य और विशेष दोनों प्रकार का होना कहागया वह सार्वत्रिक नियम नहीं, किन्तु अन्त्य विशेष=घटत्व पटत्वादि से अन्यत्र समझना चाहिये। अर्थात् द्रव्यत्वादि को अपने विभाग पृथिवीत्वादि से तो सामान्य है, और विशेष भी है, परन्तु पृथिवीत्व के भी अन्त में जो घटत्व पटत्वादि विशेष हैं, उन में तो द्रव्यत्वादि से सामान्य नहीं, किन्तु विशेष ही है। जिस प्रकार सत्ता सदा सामान्य ही है, विशेष नहीं, इसी प्रकार अन्त्य विशेष जो कि घटत्वपटत्वादि अनन्त हैं, वे सामान्य नहीं, विशेष ही विशेष हैं ॥ ६ ॥ अब सत्ता का लक्षण करते हैं:-

३८—सदिति यतोद्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥ ७ ॥

(यतः) जिस पदार्थ से (द्रव्यगुणकर्मसु) द्रव्यों, गुणों और कर्मों में (सत्) है (इति) ऐसा जाना जाता है (सा) वह (सत्ता) सत्ता वा भाव कहाता है ॥

द्रव्य है, गुण है, कर्म है, इत्यादि प्रत्ययों में जो "होना" वस्तु है, वह सत्ता कहाती है ॥ ७ ॥

प्रश्न– क्योंजी ! तो सत्ता कोई पृथक् पदार्थ तो न हुवा, "द्रव्य है" इस में द्रव्य ही तो सत्ता हुई, न कि कुछ और ? उत्तर–

३९—द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥ ८ ॥

(द्रव्यगुणकर्मभ्यः) द्रव्य, गुण और कर्म से (सत्ता) भाव (अर्थान्तरम्) अन्य पदार्थ है ॥ ८ ॥ क्योंकि–

४०—गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुणः ॥ ९ ॥

(गुणकर्मसु) गुणों और कर्मों में (च) और द्रव्यों में भी (भावात्) होने से (न) न तो (कर्म) कर्म है, (न) और न (गुणः) गुण है ॥

यदि सत्ता द्रव्यरूप ही होती तो गुण वा कर्म में सत्ता न होती, परन्तु जिस प्रकार द्रव्य में सत्ता है, उसी प्रकार कर्म और गुण में भी है, इस से पाया जाता है कि सत्ता एक भिन्न पदार्थ है, जो द्रव्य गुण कर्म रूप नहीं है ॥९॥

४१—सामान्यविशेषाऽभावेन च ॥ १० ॥

(सामा–न) सामान्य और विशेष के न होने से (च) भी ॥

जिस प्रकार द्रव्य गुण और कर्म तीनों में सूत्र (३६) के अनुसार सामान्य

और विशेष दोनों हैं, इसी प्रकार यदि सत्ता इन से भिन्न न होती तो वह (सत्ता) में भी सामान्य विशेष होते, परन्तु सूत्र (३५) के अनुसार सत्ता केवल सामान्य ही है, विशेष नहीं, इस हेतु से भी सत्ता को अर्थान्तर ही जानना चाहिये ॥ १० ॥

४२—अनेकद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ॥ ११ ॥

(अनेकद्रव्यवत्त्वेन) अनेक द्रव्य वाला होने से (द्रव्यत्वम्) द्रव्यत्व (उक्तम्) कहा गया ॥

द्रव्य से द्रव्यत्व में क्या भेद है, सो बताते हैं कि जो सत्ताव्याप्य अपर सामान्य द्रव्यत्व (द्रव्य पन) है, वह अनेक द्रव्यों वाला है, और द्रव्य (कोइ एक) द्रव्य ही है, इस से द्रव्यत्व कहा गया ॥ ११ ॥ और

४३—सामान्यविशेषाऽभावेन च ॥ १२ ॥

(सा-वेन) सामान्य विशेष न होने से (च) भी ॥

द्रव्य तो सामान्य और विशेष वाले होते हैं परन्तु द्रव्यत्व एकसा है, उस में सामान्य और विशेष नहीं, इस कारण भी द्रव्यत्व से द्रव्य भिन्न कहागया ॥१२॥

आगे द्रव्यत्व के समान गुणत्व का भी निरूपण करते हैं कि:-

४४—गुणेषु भावाद् गुणत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥

(गुणेषु) गुणों में (भावात्) होने से (गुणत्वम्) गुणत्व (उक्तम्) कहागया॥

जैसे अनेक द्रव्यों में द्रव्यत्व एक है, वैसे अनेक गुणों में गुणत्व एक है, यह कहा गया ॥ १३ ॥ और-

४५—सामान्यविशेषाऽभावेन च ॥ १४ ॥

(सा-वेन) सामान्य और विशेष न होने से (च) भी ॥

सूत्र १० और १२ के समान है ॥ १४ ॥

४६—कर्मसु भावात्कर्मत्वमुक्तम् ॥ १५ ॥

(कर्मसु) कर्मों में (भावात्) होने से (कर्मत्वम्) कर्मत्व (उक्तम्) कहा गया ॥

अनेक कर्मों में एक कर्मत्व होने से कर्म से कर्मत्व भिन्न कहागया है ॥ १५॥

४७—सामान्यविशेषाऽभावेन च ॥ १६ ॥

सूत्र १० । १२ और १३ के समान व्याख्यान है ॥ १६ ॥

अब सत्ता का एक होना सिद्ध करते हैं:-

३८-सदिति लिङ्गाऽविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भावः॥१७॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(सत् इति) "है" इस में (लिङ्गाऽविशेषात्) लिङ्ग के सामान्य से (च) और (विशेषलिङ्गाऽभावात्) विशेष का लिङ्ग न होने से (भावः) सत्ता (एकः) एक है ॥

जिस प्रकार सामान्यविशेषभावरहित सब द्रव्यों में द्रव्यत्व एक है, सब अनेक गुणों में गुणत्व एक है, सब कर्मों में कर्मत्व एक है, इसी प्रकार सब द्रव्यों, गुणों और कर्मों में भाव वा सत्ता एक है, क्योंकि " है " इतने में कोई विशेष का चिन्ह नहीं, । द्रव्य है, गुण है, कर्म है, इन सब उदाहरणों में "है=अस्ति" एक सा है, उस में विशेष का लिङ्ग कुछ नहीं ॥ १७ ॥

इस २ आन्हिक के विषय को बताने वाला यह नीचे लिखा श्लोक वैदिक वृत्ति से उद्धृत किया जाता है जो सब पाठकों को उपयोगी होगा कि-

कार्यकारणयोर्ज्ञानं सामान्यार्थस्य लक्षणम् ।

परीक्षणं च संक्षेपाद्द्वितीयेऽस्मिन्प्रकीर्त्तितम् ॥ १ ॥

कार्य और कारण का ज्ञान, सामान्य अर्थ का लक्षण और संक्षेप से परीक्षा; इस द्वितीय (आन्हिक) में कही गई ॥ १ ॥

इति प्रथमाऽध्याये द्वितीयमान्हिकम् ॥ २ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते

वैशेषिकदर्शन भाषानुवादे

प्रथमोऽध्यायः

॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

तत्र

प्रथममाह्निकम्

अब द्रव्यों का लक्षण आरम्भ करते हुवे, प्रथम ९ द्रव्यों में से पहिली पृथिवी का लक्षण करते हैं:—

४९—रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥ १ ॥

(रू-ती) रूप, रस, गन्ध, और स्पर्शवाली (पृथिवी) पृथिवी है ॥

पृथिवी में गन्ध गुण अपना और रूपादि तीन गुण अपने से पहले तेज, अप्, और वायु के मिलाकर ४ गुण हैं। आकाश का पांचवां गुण शब्द यहां इस लिये पृथिवी में नहीं गिनाया कि प्रत्येक शास्त्रकार अपने सूत्रों में अपने अभिमत लाक्षणिक अर्थों के लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग करता है। यद्यपि न्यायशास्त्रादि में ५ वां महाभूत आकाश गिनाया है, सांख्य में उस को प्रकृति का कार्य कहा गया है, जिस का गुण शब्द है, परन्तु वैशेषिक दर्शन में आकाश का गुण शब्द नहीं गिनाया, किन्तु शब्द को एक प्रकार से वायु गुण मानलिया हो, और उस आकाश को भी जिस को सांख्यादि ने प्रकृति का कार्य माना है, वैशेषिक ने वायु के अन्तर्गत समझा हो, ऐसा जान पड़ता है। क्योंकि वैशेषिक के आचार्य कणाद मुनि ने आगे चलकर इसी अध्याय और आन्हिक के सूत्र २० में "निष्क्रमणं प्रवे०" केवल निकलना व प्रवेश करना मात्र आकाश का चिन्ह कहा है, शब्द नहीं। इस से पाया जाता है कि वैशेषिक शास्त्र में आकाश कोई प्राकृत पदार्थ नहीं, किन्तु दिशा और काल के समान एक तीसरा द्रव्य आकाश भी है, जो शून्यार्थक व्यावहारिक है। परन्तु न्याय सांख्यादि के अभिमत आकाश (महाभूत) का इस से खण्डन नहीं समझना चाहिये, किन्तु जैसे सांख्य ने अपने मतानुसार एक प्रकृति को उपादान कारण माना है, और आकाशादि ५ महाभूतों को तदन्तर्गत कार्य माना है, और न्याय में प्रकृति का नाम न लेकर केवल आकाशादि ५ महाभूतों से ही सब जगत् की रचना मानते हुवे, उन्हीं को उपादान कारण माना है। इसी प्रकार वैशेषिक ने कुछ कार्य कारणपने की विवक्षा से नहीं, किन्तु व्यावहारिक संज्ञा रखकर अपना व्यवहार चलाने को पृथिवी

आदि ९ पदार्थों की द्रव्य संज्ञा करली है, शेष गुणादि समवायान्त ५ पदार्थ अन्य गिना कर व्यवहार चलाया है। इतने से कोई वैशेषिक का सांख्यादि के साथ विरोध नहीं हुवा। किन्तु संज्ञा भेदमात्र हुवा ॥ १ ॥

अब दूसरे अप् द्रव्य का लक्षण करते हैं:—

५०—रूपरसस्पर्शवत्य आपोद्रवाः स्निग्धाः ॥ २ ॥

(रू-त्यः) रूप, रस, स्पर्श वाले (द्रवाः) बहने वाले (स्निग्धाः) और चिकने (आपः) जल हैं ॥

यहां भी शब्द को आकाश का गुण न मानते हुए व्यवहार है। ऐसे ही आगे भी "परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य" २७ में आकाश की पहचान शब्द बताया है, न कि गुण ॥ २ ॥

५१—तेजोरूपस्पर्शवत् ॥ ३ ॥

(रूपस्पर्शवत्) रूप और स्पर्श वाला (तेजः) तेज वा अग्नि द्रव्य है ॥३॥

५२—स्पर्शवान्वायुः ॥ ४ ॥

(स्पर्शवान्) स्पर्श वाला (वायुः) वायु है ॥ ४ ॥

५३—त आकाशे न विद्यन्ते ॥ ५ ॥

(ते) ये गन्धादि चारों गुण (आकाशे) आकाश पोल शून्य वा खुला द्रव्य में (न) नहीं (विद्यन्ते) हैं ॥ ५ ॥ और—

५४—सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद्
द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥ ६ ॥

(सर्पि-नाम्) घृत, लाख, मधु=शहद=माक्षिकादि का (अग्निसंयोगात्) अग्नि के संयोग से (अद्भिः) जलों के साथ (सामान्यम्) सामान्य है ॥

घृत, लाख और शहद को गरमी पहुंचाने से इन में द्रवत्व (बहाव) उत्पन्न होजाता है, तब ये द्रव होकर जल के समान होजाते हैं ॥ ६ ॥ तथा—

५५—त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद्
द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥ ७ ॥

(त्रपु-सीस-लोह-रजत-सुवर्णानाम्) रांग, सीसा, लोहा, चान्दी और सोने का (अग्निसंयोगात्) अग्नि के संयोग से (द्रवत्वम्) पिंघलापन (अद्भिः) जलों से (सामान्यम्) समानता है ॥

जिसप्रकार घृतादि काष्ठ विकारों में अग्नि से द्रवत्व होजाता है, इसी प्रकार रांगा, सीसा, लोहा, चान्दी, सोना और अन्य धातुओं का भी पिंघल कर जल के समान द्रवत्व होजाता है ॥ ७ ॥

यदि कहो कि "स्पर्शवान्वायुः" यह वायु का लक्षण इस लिये उचित नहीं कि प्रथम तो वायु का होना ही साध्य है, तब लक्षण से लक्ष्य जाना जायगा । इस पर अदृष्ट चिन्ह (लिङ्ग) से उसको सिद्ध करने के लिये प्रथम दृष्ट (चाक्षुषप्रत्यक्ष) लिङ्ग का उदाहरण देते हैं:—

५६—विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेवालधिः सास्नावान् इति गोत्वे दृष्टं लिङ्गम् ॥ ८ ॥

(विषाणी) सींग वाला, (ककुद्मान्) ऊंची ककुद् [टाट] वाला, (प्रान्तेवालधिः) पुच्छ के अन्तिम भाग में बालों वाला और (सास्नावान्) गले में लटक ने वाले मांस [कमला] वाला, यह (गोत्वे) बैल=गोजाति होने में (दृष्टम्) दृष्ट (लिङ्गम्) लिङ्ग=चिन्ह वा लक्षण है ॥ ८ ॥ इसी प्रकार—

५७—स्पर्शश्च वायोः ॥ ९ ॥

(वायोः) वायु का (स्पर्शः) स्पर्श (च) भी [लिङ्ग] है, जिस से लिङ्गी वायु पहचाना जाता और सिद्ध होता है ॥ ९ ॥ तथा च—

५८—न च दृष्टानां स्पर्श इत्यऽदृष्टलिङ्गोवायुः ॥ १० ॥

(च) और (दृष्टानां) दृष्टों=पृथिवी जल अग्नियों का (स्पर्शः) स्पर्श गुण वा लिङ्ग (न) नहीं है (इति) इस कारण (वायुः) वायु (अदृष्टलिङ्गः) अदृष्ट लिङ्ग वाला है ॥ १० ॥

यदि कहो कि स्पर्श लिङ्ग से सिद्ध वायु कोई होगा, परन्तु यह कैसे जानें कि यह वैशेषिकोक्त ९ द्रव्यों में का एक द्रव्य ही है ? उत्तर—

५९—अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम् ॥ ११ ॥

(अद्रव्यवत्त्वेन) द्रव्य वाला न होने से (द्रव्यम्) द्रव्य ही है ॥

वायु स्पर्श वाला है और स्पर्श द्रव्य नहीं, बस वायु द्रव्य वाला नहीं, इस से वह स्वयं द्रव्य है ॥ ११ ॥

और भी हेतु हैं कि जिन से वायु का द्रव्यत्व पाया जाता है। यथा—

६०—क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ॥ १२ ॥

(क्रियावत्त्वात्) क्रियावान् होने(च) और (गुणवत्त्वात्) गुणवान् होने से ॥

सूत्र १५ में द्रव्य का लक्षण करते हुवे कह आये हैं कि क्रियावान् और गुणवान् द्रव्य होता है, तदनुसार वायु भी क्रियावान् और गुणवान् होने से द्रव्य ही है, कोई अन्य पदार्थ नहीं ॥ १२ ॥

यदि वायु द्रव्य भी है तो भी इस को नित्यत्व क्यों कहा है, पृथिवी जलादि के समान अनित्यता क्यों नहीं? उत्तर—

६१—अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥

(अद्रव्यत्वेन) द्रव्यवाला न होने से (नित्यत्वम्) नित्यता (उक्तम्) कही गई ॥

लोकव्यवहार में वायु को नित्य इस कारण से कहा गया है कि वायु का कारण अन्य द्रव्य देखा नहीं जाता। यह नित्यता वास्तविक नित्यता तो नहीं है, किन्तु व्यवहार ऐसा है ॥ १३ ॥

वायु एक है वा अनेक? उत्तर—

६२—वायोर्वायुसंमूर्छनं नानात्वे लिङ्गम् ॥ १४ ॥

(वायोः) वायु से (वायुसंमूर्छनं) वायु की टक्कर (नानात्वे) अनेक होने में (लिङ्गम्) पहचान है ॥

यदि वायु एक होता तो वायु से वायु की टक्कर न होती, वायु के बबूले न उठते। उठते हैं, इस से जाना जाता है कि वायु अनेक हैं। उन में एक तो सूक्ष्म तथा अल्प वायु पृथिवी के चारों ओर लिपटा है, जिस से पृथिवीस्थ प्राणी श्वास लेकर जीवित रहते हैं, दूसरे जो पूर्व से पश्चिम वा दक्षिण वा उत्तरादि दिशा विदिशाओं में घूमते फिरते हैं। हम सदा एकसा स्पर्श (दबाव) अपने ऊपर होने से उस साधारण वायु का अनुभव नहीं कर पाते, जो हमारा जीवन है, केवल पूर्व पश्चिमस्थादि वायुवों को आपामर सब जानते हैं ॥१४॥

६३—वायुसंनिकर्षे प्रत्यक्षाऽभावाद्
दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ॥ १५ ॥

(वायुसंनिकर्षे) वायु के सामीप्य में (प्रत्यक्षाऽभावात्) प्रत्यक्ष न होने से (दृष्टं) दृष्ट (लिङ्गम्) चिन्ह (न) नहीं (विद्यते) है ॥

जिस प्रकार पृथिवी आदि ३ भूत चक्षुर्विषय हैं, इस प्रकार वायु समीप होने पर भी आंख से नहीं दीखता, इस लिये इस के लिङ्ग (स्पर्श) को दृष्ट नहीं माना जाता। यहां प्रयोग किया "प्रत्यक्ष" शब्द न्यायदर्शनोक्त लाक्षणिक नहीं है, किन्तु वह " आंखों देखे " अर्थ में प्रयुक्त है। क्योंकि त्वचा इन्द्रिय का प्रत्यक्ष तो है ही है ॥ १५ ॥

६४—सामान्यतोदृष्टाच्चाऽविशेषः ॥ १६ ॥

(सामान्यतोदृष्टात्) सामान्यतोदृष्ट से (च) भी (अविशेषः) सामान्य सिद्ध है ॥

जिस प्रकार विषाण पुच्छ सास्नादि को देख कर गौ वैल पहचाने जाते हैं, इस प्रकार स्पर्श से वायु नहीं पहचाना जाता है। क्योंकि वायु स्पर्श होने पर भी गौ आदि के समान दीखता नहीं, तथापि जहां २ हम क्रिया देखते हैं वहां २ किसी करण=साधन को पाते हैं, और जहां कोई गुण देखते हैं, वहां उस का आश्रयभूत कोई द्रव्य अवश्य पाते हैं, बस स्पर्श गुण को पाकर उस के आश्रय द्रव्य वायु को भी अनुमान करना चाहिये, परन्तु इस सामान्यतोदृष्ट अनुमान से इतना सिद्ध होता है कि स्पर्श का भी कोई द्रव्य है, बस इस सामान्य से अतिरिक्त विशेष वायु आदि संज्ञा नहीं सिद्ध होती, इस कारण अविशेष रहा ॥

हम देखते हैं कि रूपादि गुण अपने तेज आदि द्रव्यों के आश्रय रहते हैं, और स्पर्श भी गुण है, वह भी किसी द्रव्य के आश्रय रहना चाहिये क्योंकि १६ वें सूत्रानुसार गुण का लक्षण " द्रव्याश्रयी " आवश्यक बता चुके हैं, बस स्पर्श गुण का आश्रय द्रव्य भी कोई होना चाहिये, वही वायु है। ताशे नंगारे बजते समय हम देखते ही हैं कि द्रव्यों की परस्पर चोट से शब्द उत्पन्न होता है, तब वृक्षों के पत्तों का हिलना और उस से शब्द होना देख कर अनुमान करते हैं कि वृक्षों के पत्तों का हिलाने वाला भी कोई द्रव्य है, जो रूप वाला नहीं, क्योंकि दीखता नहीं, परन्तु स्पर्श वाला और वेग वाला है जो चलता और पत्तों से रगड़ कर शब्द करता है। जिस २ पदार्थ का धारण हम देखते हैं, वह २ धारण किसी द्रव्य द्वारा हो रहा है, जैसे पृथिवी पर्वत वृक्षादि को, वृक्षादि फलादि को धारण करते हैं, नौका को जल धारण करता है, इसी प्रकार आकाश में तृणों, तूलों, मेघों, विमानों

और उड़ते पक्षियों को धारण करने वाला भी कोई द्रव्य होना चाहिये, पर आंख से कोई द्रव्य नहीं दीखता, क्योंकि मेघादि का धारक द्रव्य रूपवान् नहीं, जो दीख सके, परन्तु स्पर्शवान् और वेगवान् है, क्योंकि उस का स्पर्श=छूना अनुभव होता है, और वेग=टक्कर वा दबाव वा बहाव भी अनुभव होता है, वह कोई द्रव्य है, जो सामान्यतोदृष्ट होने से विशेष ज्ञात नहीं होता कि वह क्या है। सो-

६५-तस्मादागमिकम् ॥ १७ ॥

(तस्मात) इस लिये (आगमिकम्) शब्दप्रमाणसिद्ध है॥

शब्दप्रमाण वेदादि शास्त्र और तदनुसारी लोकव्यवहार में उस को वायु कहते हैं, इस लिये वह द्रव्य विशेष "वायु" है ॥ १७॥

यदि कहो कि वायु संज्ञा मात्र से विशेष क्या सिद्ध हुवा ? तो उत्तर-

६६-संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् ॥ १८ ॥

(संज्ञा) नाम और (कर्म) काम (तु) ही तो (अस्मद्विशिष्टानां) हमारे विशिष्टों का (लिङ्गम्) लिङ्ग है॥

नाम और काम ही से तो आप और हम विशिष्टों (विशेष वाले पदार्थों) को पहचानते हैं, तब नाम (वायु) से विशेष क्यों सिद्ध नहीं, अवश्य है॥१८॥

क्योंकि-

६७-प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्संज्ञाकर्मणः ॥ १९ ॥

(संज्ञाकर्मणः) नाम और काम के (प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्) प्रत्यक्षप्रवृत्त होने से॥

संसार में वस्तुओं के नाम और काम देखकर व जानकर प्रवृत्त हुवे हैं, वायु संज्ञा भी विशेष कर उस के कामों से रक्खी गई है॥

सूत्र १८ और १९ पर पं० स्वामी हरिप्रसाद जी ने और तदनुसार पं० आर्य-मुनि जी ने एक अन्य ध्वनितार्थयुक्त भाष्य किया है, जो पाठकों के सामने रखने योग्य है। इस भाषानुवाद के पाठक आर्यभाषा में ही देखना चाहेंगे क्योंकि भानुवाद आर्य भाषा में है। इस लिये हम उक्त दोनों सूत्रों का पं० आर्यमुनि कृत भाष्य उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार है कि:-

"भाष्य-'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्' ऋ० ८।४।१७ परमेश्वर पृथिवी आदि सब लोकों का पालन करता है, इत्यादि मन्त्रों से जो भूमि आदि की

पृथिवी आदि संज्ञा 'सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन' यजु० ३। ८=प्रज्वलित अग्नि में हवि प्रदान करे, इत्यादि मन्त्रों से अग्निहोत्रादि इष्ट कर्मों का विधान तथा 'गां मा हिं सीः' यजु० १३। ४३=गौ आदि पशुओं की हिंसा न करे, इत्यादि, गौ आदि पशुहिंसारूप अनिष्ट कर्मों का निषेध वेदों में किया है, वह उन के ईश्वरोक्त होने में प्रमाण है॥

भाव यह है कि 'न हीदृशस्यर्ग्वेदादिलक्षणशास्त्रस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति' शं० भा०=भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान अर्थों के प्रतिपादक ऋग्वेदादि चारों वेदों की उत्पत्ति किसी सर्वज्ञ के विना नहीं हो सकती, इस लिये भूतादि अर्थों के प्रतिपादनपूर्वक संज्ञा कर्मादि का विधान वेदों के ईश्वरोक्त होने में प्रमाण है॥

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि सर्वविद्या तथा सर्व अर्थों के प्रतिपादक होने से वेदों को 'अस्मद्विशिष्ट' कहते हैं और 'अस्मत्' शब्द के प्रयोग से सूचित किया है कि वेदों के पठन पाठनादि का अधिकार मनुष्यमात्र के लिये समान है। सं० अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं:-

प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्संज्ञाकर्मणः॥ १९॥

पद०-प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्। संज्ञाकर्मणः॥

पदा०-(संज्ञाकर्मणः) संज्ञा तथा कर्म का प्रवर्त्तक ईश्वर है (प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्) क्योंकि उस को सब पदार्थ प्रत्यक्ष हैं॥

भाष्य-जिस को जिस विषय का प्रत्यक्ष होता है वह उस विषय में संज्ञा तथा कर्म का विधान कर सकता है, अन्य नहीं। जैसा कि 'अयं चैत्रः' इस का नाम चैत्र है, इस प्रकार पिता आदि सम्बन्धी पुत्रादिकों में चैत्रादि संज्ञा का विधान करते हैं, तथा 'पितरं भजस्व'=पिता की सेवा कर 'जननीं मावजानीहि' माता की अवज्ञा न कर, इस प्रकार शिष्य के प्रति आचार्यादि इष्ट कर्मों का अनुष्ठान तथा अनिष्ट कर्मों का निषेध कथन करते हैं, क्योंकि पिता आदि को पुत्रादि का तथा आचार्यादि को उक्त विहित निषिद्ध कर्मों के विषय का प्रत्यक्ष है, वैसे वेदोक्त संज्ञा तथा कर्म के विषय का ईश्वर को प्रत्यक्ष है, इस लिये वह उन का प्रवर्त्तक है॥

भाव यह है कि अल्पज्ञ होने के कारण किसी उपदेष्टा के विना जीवों को जगदन्तर्वर्त्ती पदार्थों की संज्ञा तथा इष्टानिष्ट कर्मों का ज्ञान नहीं हो सकता और वह स्वयं उन की संज्ञा बांधने तथा इष्टाऽनिष्ट कर्म के जानने में

समझते हैं, परन्तु वेदों में उन की संज्ञा तथा इष्टाऽनिष्ट कर्मों का उपदेश पाया जाता है वह उन से ईश्वरोक्त हुवे विना नहीं बन सक्ता, इस लिये यह अवश्य मानना पड़ता है कि वेदद्वारा जिन संज्ञा आदि का उपदेश पाया जाता है उन का उपदेष्टा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर है और उन के उपदेष्टा होने से सिद्ध है कि वेद ईश्वरोक्त हैं और ईश्वरोक्त होने से वह स्वतः प्रमाण हैं और उन के प्रमाण होने से तत्कृत वायु आदि संज्ञा के प्रामाणिक होने में कोई सन्देह नहीं और सृष्टि के आदि में संज्ञा तथा कर्मों की प्रवृत्ति वेदों द्वारा होती है, यह सर्वसम्मत है । जैसा कि:-

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ मनु०१।१३

में कहा है कि सृष्टि के आदि में प्रजापति परमेश्वर ने वेद शब्दों द्वारा सब के नाम, कर्म तथा लोकमर्यादा को नियमपूर्वक रचा । इसी अर्थ को वेदों में भी स्पष्ट किया है कि 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' ऋ० ८ । ८ । ४८ । ४=परमात्मा ने सूर्य आदि लोक तथा उन के नाम, कर्म पूर्व कल्प के अनुसार निर्माण किये । इस से स्पष्ट है कि वेदों में जो इस प्रकार का अपूर्व उपदेश पाया जाता है, उस का उपदेष्टा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर है और ईश्वरोक्त होने से वेद स्वतः प्रमाण तथा तत्कृत वायु संज्ञा भी प्रामाणिकी है" ॥

परन्तु हमने उक्त "अनियुक्त अनुवाद छोड़कर जो पृथक् अनुवाद किया है, उस में मूलसूत्रस्थ पदों की घटना से वैसा ही अर्थ निकलता जान कर किया है । जो जिस को रुचिकर हो, ग्रहण करे ॥ १९ ॥

वायु का वर्णन करके अब आकाश का वर्णन आरम्भ करते हैं कि:-

६८—निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् ॥ २० ॥

(निष्क्रमणं) निकलना और (प्रवेशनं) प्रवेश करना (इति) यह (आकाशस्य) आकाश का (लिङ्गम्) लिङ्ग चिह्न वा पहचान है ॥

जहां से निकलना व जिस में प्रवेश करना बन पड़े जानो कि वहां आकाश है, आकाश के विना निष्क्रमण और प्रवेश संभव नहीं । क्योंकि आकाश के सिवाय पृथिव्यादि तो अपनी जगह में दूसरे को प्रवेश नहीं होने देते, या तो स्वयं हटें वा दूसरे को प्रवेश करने से रोकें ॥ २० ॥

अब पूर्व सूत्र पर शङ्का करते हैं कि:-

६९—तदऽलिङ्गमेकद्रव्यत्वात्कर्मणः ॥ २१ ॥

(कर्मणः) कर्म को (एकद्रव्यत्वात) एक द्रव्य वाला होने से (तत्) वह=निष्क्रमण और प्रवेश (अलिङ्गम्) लिङ्ग नहीं हो सकता ॥

प्रत्येक कर्म, एक द्रव्य में होता है, इसी प्रकार प्रवेश भी प्रविष्ट द्रव्य वाला है और निष्क्रमण भी निष्क्रान्त द्रव्य वाला है। इस में आकाश का लिङ्ग मानना किसी को उपपन्न नहीं होता ? ॥ २१ ॥ तथा—

७०—कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च ॥ २२ ॥

(का-र्म्यात्) अन्य कारण की कल्पना के वैधर्म्य से (च) भी ॥

जिस कारण से जो कार्य होता पाया जावे, उसी को उस का कारण मानना चाहिये, अन्य कारण की कल्पना में वैधर्म्य है। इस निकलने घुसने वाले द्रव्यों को जो निकलने घुसने का स्वयं कारण हो सकते हैं, छोड़ कर एक अन्य कारण (आकाश) की कल्पना करना ठीक नहीं ? ॥ २२ ॥

आगे समाधान करते हैं कि:-

७१—संयोगादऽभावः कर्मणः ॥ २३ ॥

(संयोगात्) संयोग से (कर्मणः) कर्म का (अभावः) अभाव है ॥

आकाश में संयोग से क्रिया नहीं, किन्तु फलसंनिधान है। कर्म क्रिया को कहते हैं और क्रिया किसी व्यापार और फल को कहते हैं, निष्क्रमण और प्रवेश दोनों व्यापार हैं, उन व्यापारों से उत्पन्न फल यह है कि निकलने और प्रवेश करने वाले पदार्थ का संयोग विशेष होना। तब आकाश में फल के समवाय से व्यापार का समवाय नहीं, सो तो ठीक, परन्तु इतने से आकाश को अकारण तो नहीं कह सकते, हां उपादान कारण न सही, परन्तु निमित्त कारण तो है ही क्योंकि आकाश के विना निष्क्रमण और प्रवेश हो नहीं सक्ते ॥

यदि कोई कहे कि इस से आकाश का होना मात्र पाया गया, परन्तु निकलने घुसने का कारण होना क्योंकर पाया गया ? उत्तर यह है कि नियत पूर्ववर्त्ती को कारण कहते हैं, सो प्रत्येक प्रवेश और निष्क्रमण से आकाश अवश्य पूर्ववर्त्ती है, जो सर्वकालवर्त्ती और ईश्वर के समान निमित्त किया जा सकता है। इस लिये सूत्र २२ का यह कहना कि कारणान्तर की कल्पना

में वैधर्म्य है, ठीक नहीं। बस प्रवेश और निष्क्रमण अवश्य आकाश के ज्ञापक लिङ्ग हैं ॥ २३ ॥

आगे यह बतलाने को कि आकाश का ही गुण शब्द है, भूमिका बांधते हैं कि-

७२-कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥ २४ ॥

(कार्यगुणः) कार्य का गुण (कारणगुणपूर्वकः) कारण के गुणपूर्वक (दृष्टः) देखा जाता है ॥

अर्थात् कार्य में वही गुण होते हैं जो उस के कारण में हों ॥ २४ ॥

यदि कहो कि इस से आकाश का गुण शब्द होना तो नहीं सिद्ध हुवा। तो उत्तर-

७३-कार्यान्तराऽप्रादुर्भावाच्छब्दः स्पर्शवतामगुणः ॥२५॥

(कार्यान्तराऽप्रादुर्भावात्) किसी अन्य कार्य के प्रकट न होने से (स्पर्शवतां) स्पर्श वाले पृथिवी से वायुपर्यन्तों का (शब्दः) शब्द (अगुणः) गुण नहीं है ॥

स्पर्श वाले पृथिव्यादि ४ द्रव्यों का गुण शब्द नहीं हो सकता, क्योंकि पृथिव्यादि के कार्य घटपटादि से शब्द प्रकट नहीं होता, अतः शब्द को आकाश का ही गुण मानना होगा ॥ २५ ॥

यदि कहो कि परिशेष से आकाश का ही क्यों समझलें, मन वा आत्मा का गुण शब्द को क्यों न मानलें? तो उत्तर-

७४-परत्र समवायात्प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः ॥२६॥

(परत्र) अन्य द्रव्यों में (समवायात्) समवेत होने (च) और (प्रत्यक्षत्वात्) प्रत्यक्ष होने से (न) न तो (आत्मगुणः) आत्मा का गुण है और (न) न (मनोगुणः) मन का गुण है ॥

शब्द को अन्य पदार्थों में समवाय सम्बन्धयुक्त पाते हैं और प्रत्यक्ष (श्रवणेन्द्रियानुभूत) पाते हैं, आत्मा और मन न तो किसी से समवाय संबन्ध रखते, और न प्रत्यक्ष होते, अतएव शब्द को आत्मा वा मन का गुण नहीं कहा जासकता ॥ २६ ॥ किन्तु-

७५-परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य ॥ २७ ॥

(परिशेषात्) बच रहने से (आकाशस्य) आकाश का (लिङ्गम्) लिङ्ग वा चिन्ह [शब्द है]॥

जब शब्द पृथिव्यादि चार भूतों का गुण नहीं, आत्मा और मन का नहीं, तब बचा केवल आकाश, इस लिये शब्द को आकाश का गुण ही समझा जाना बनता है॥ २७॥

७६-द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते॥ २८॥

आकाश के (द्रव्यत्वनित्यत्वे) द्रव्यत्व और नित्यत्व (वायुना) वायु से (व्याख्याते) व्याख्यात किये गये॥

२७ वें सूत्र में से इस २८ वें में "आकाशस्य" पद की अनुवृत्ति है। जिस प्रकार वायु को स्पर्श गुण वाला होने से द्रव्यत्व और अन्य द्रव्य का कार्य न होने से नित्यत्व कहा गया था, इसी प्रकार आकाश को भी शब्द गुण वाला होने से द्रव्यत्व और अन्य द्रव्यकारणकता न होने से नित्यत्व समझ लेना चाहिये॥ २८॥

क्यों जी! आकाश नित्य और द्रव्य तो सिद्ध हुआ, परन्तु आकाश कोई तत्त्व है, इस को कैसे मानें? उत्तर—

७७-तत्त्वं भावेन॥ २९॥

(भावेन) भाव=सत्ता से (तत्त्वम्) तत्त्व व्याख्यात समझना चाहिये॥

जिस प्रकार भाव एक है, इसी प्रकार आकाश भी एक तत्त्व है॥२९॥ क्योंकि-

७८-शब्दलिङ्गाऽविशेषाद्विशेषलिङ्गाऽभावाच्च॥ ३०॥

(शब्दलिङ्गाऽविशेषात्) शब्द लिङ्ग के सामान्य से (च) और (विशेष लिङ्गाऽभावात्) विशेष लिङ्ग के न होने से [आकाश एक तत्त्व है]॥

आकाश का लिङ्ग शब्द है, सो कहीं विशेष नहीं, सर्वत्र समान है, और विशेष होने का कोई लिङ्ग=पहचान नहीं, इस लिये जिस प्रकार भाव वा सत्ता लिङ्गाऽविशेष से और विशेषलिङ्गाऽभाव से सूत्र ५८ में एक कही गई थी, इसीप्रकार आकाश को भी उन्हीं कारणों से एक समझना चाहिये॥३०॥

७९-तदनुविधानादेकपृथक्त्वं चेति॥ ३१॥

(तदनुविधानात्) उस [एकत्व] के साहचर्य से (एकपृथक्त्वं) एक पृथक् होना (च) भी आकाश का सिद्ध है (इति) आह्निक समाप्ति के अर्थ में है ॥

जो पदार्थ एक होता है, वह सब से पृथक् भी होता है, जब आकाश एक है, तत्त्व है, तब वह पृथक् भी है, एक द्रव्य में रहने वाले पृथक्त्व को एकपृथक् समझिये ॥ ३१ ॥

इति द्वितीऽध्यायस्य प्रथममान्हिकम्

—※—

अथ द्वितीयाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम्

पूर्वाह्निक में पृथिवी आदि के लक्षण और आकाश तथा शब्द का वर्णन करके, इस द्वितीयाह्निक में उन की परीक्षा की जायगी । उस में प्रथम पृथिवी के लक्षण की परीक्षा करने के लिये यह कहते हैं कि पृथिवी से अन्य किसी द्रव्य का गन्ध गुण नहीं है । यथा–

८०–पुष्पवस्त्रयोः सति संनिकर्षे गुणान्तराऽप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाऽभावलिङ्गम् ॥ १ ॥

(पुष्पवस्त्रयोः) पुष्प और वस्त्र के (संनिकर्षे) समीप (सति) होने पर (गुणान्तराऽप्रादुर्भावः) अन्य गुण का प्रकट न होना (वस्त्रे) वस्त्र में (गन्धाऽभावलिङ्गम्) गन्ध न होने की पहचान है ॥

जब कभी गन्ध वाले पुष्प और गन्धरहित वस्त्र को एकत्र समीप रख देवें, तब भी वस्त्र में पुष्प के गुण (गन्ध) को प्रकट होता नहीं देखते, इस कारण समझना चाहिये कि वस्त्र में गन्ध नहीं । और जो वस्त्र को पुष्पसंसर्ग से कुछ गन्ध वस्त्र में प्रतीत होने लगता है, वह गन्ध आगन्तुक है, अपना निज का नहीं । इसी प्रकार पृथिवी के समीप होने से जिन अन्य वायु आदि में गन्ध प्रतीत होता है वह भी उन वायु आदि का निज गुण नहीं समझना चाहिये, किन्तु पृथिवी के कण उड़ कर वायु में मिल कर गन्ध की प्रतीति कराते हैं, केवल वायु में न सुगन्ध है, न दुर्गन्ध है ॥ १ ॥

८१–व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥२॥

(पृथिव्यां) पृथिवी में (गन्धः) गन्ध गुण (व्यवस्थितः) ठीक सिद्ध है ॥ २ ॥

८२—एतेनोष्णता व्याख्याता ॥ ३ ॥

(एतेन) इस से (उष्णता) गरमी (व्याख्याता) व्याख्यात की गई ॥

पृथिवी का स्वाभाविक गन्ध गुण जिस प्रकार अन्य जलादि में सांसर्गिक प्रतीत होता है, इतने से जलादि में गन्ध निज का नहीं सिद्ध होता, इसी बात से उष्णता भी जो अग्नि का स्वाभाविक गुण है, जल वायु में सांसर्गिक समझनी चाहिये ॥ ३ ॥ आगे इसी को स्पष्ट करके कहते हैं:-

८३—तेजस उष्णता ॥ ४ ॥

(तेजसः) अग्नि तत्त्व की (उष्णता) गरमी है ॥

जैसे पृथिवी में गन्ध स्वाभाविक व्यवस्थित है, इसी प्रकार अग्नि में उष्णता व्यवस्थित है, अन्य जल वायु आदि भी उष्ण वा गर्म पाये जाते हैं सो वे अग्नि के संसर्ग से गर्म होते हैं; अपने निजगुण से नहीं ॥ ४ ॥ इसी प्रकारः-

८४—अप्सु शीतता ॥ ५ ॥

(अप्सु) जलों में (शीतता) ठंढा पन है ॥

जल में ठंढापन व्यवस्थित है। वायु भी ठंढा देखा जाता है, परन्तु वह ठंढ उस में जलसंसर्ग की होती है। निज की स्वाभाविक नहीं ॥ ५ ॥

पृथिवी जल तेज वायु के लक्षणों की परीक्षा कह चुके, आगे आकाश के लक्षण शब्द की परीक्षा फिर की जायगी। अभी काल की परीक्षा इस लिये पहले करते हैं कि उस से आकाश की वा शब्द की परीक्षा सुगम हो जायगी। प्रथम तो काल पदार्थ के होने में उस के चिह्न वा लिङ्ग वा पहचान बताते हैं:-

८५—अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ॥ ६ ॥

(अपरस्मिन्) बरछे=अल्पवयस्कादि में (अपरम्) अल्पायुष्क होने का ज्ञान, (युगपत्) एक साथ (चिरम्) देरी से (क्षिप्रम्) शीघ्र (इति) ये (काललिङ्गानि) काल के चिह्न हैं ॥

इधर के में इधर का ज्ञान, उधर के में उधर का ज्ञान, एक साथ में एक साथ का ज्ञान, देरी में देर का ज्ञान, जल्दी में जल्दी का ज्ञान, इस प्रकार के

व्यावहारिक ज्ञान, काल के लिङ्ग हैं, अर्थात् इन से काल पहचाना जाता है ॥

जिन की अपेक्षा से एक पुरुष को बालक, दूसरे को युवा, तीसरे को वृद्ध कहते हैं, सूर्य के उदय अस्त जिस के जन्म से लेकर न्यून बीते हैं, वह बालक, उन से अधिक बार जिस के सामने सूर्योदय और सूर्यास्त हो चुके, वह युवा, उन से भी अधिक बार उदयाऽस्त वाला वृद्ध कहाता है, वह जिस को लक्ष्य करके यह न्यूनाधिक व्यवस्था होती है, वह काल पदार्थ है। यदि कालकृत अन्तर या फ़र्क़ न हो तो युवा को वृद्ध वा वृद्ध को बालक क्यों नहीं समझ लिया जाता, काल ही है जो इन में अपने सम्बन्ध से अन्तर कराता है ॥

पृथिवी आदि ५ महाभूतों से पृथक् ही काल पदार्थ हुवा। क्योंकि पहले, पीछे, एक साथ, शीघ्र, देर से, यह व्यवहार पृथिवी में नहीं होता, न जल में, न तेज में, न अन्य किसी द्रव्य में, इस लिये इन से पृथक् काल एक द्रव्यान्तर है, जो पदार्थ पृथिवी आदि से भिन्न है, अचेतन होने से आत्मा से भी भिन्न है, जो बूढ़े वा जवानों के देहों और सूर्य से संसर्ग करके अपनी साथी संयुक्त और संयोग स्वरूप समीपता से वा अपने से संयुक्त समवाय स्वरूप समीपता से सूर्योदयाऽस्तादि को बूढ़े वा जवानों के देहों से संबद्ध करता है, वही द्रव्य " काल " कहाता है। इसी से वरे परे देर से वा शीघ्र, इत्यादि प्रतीतियों को काल का लिङ्ग कहा गया है ॥

देशकृत वरे, परे होना, इस कालकृत वरे परे इत्यादि प्रत्यय से विलक्षण है। देशकृत अधिक परत्व को " दूर " कहते हैं। कालकृत अधिक परत्व को " चिर या देर " कहते हैं। दूर और चिर के अर्थ में जो अन्तर है, वही देश और काल के लिङ्गों की विलक्षणता है। ॥

लोग देखते हैं कि कोई क्रिया मेरठ में हो रही है, और उसी समय वही क्रिया कलकत्ते में हो रही है, तब कालकृत संबन्ध तो दोनों स्थानों में युगपत (एक साथ) है, परन्तु देशकृत संबन्ध एक नहीं। मेरठ से कलकत्ता दूर समझा ही जाता है, परन्तु मेरठ में होने वाली क्रिया और कलकत्ते में होने वाली क्रिया जिस एक द्रव्य से संबद्ध हुई वह काल है ॥ ६ ॥

यदि कहो कि ऊपर के सूत्रव्याख्यान से काल कोई पदार्थ होना तो पाया गया, परन्तु उस का नित्य होना और द्रव्य होना कैसे समझा जावे ? तो उत्तर-

८६-द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ७ ॥

(द्रव्यत्वनित्यत्वे) [काल की] द्रव्यत्व और नित्यत्व (वायुना) वायु के साथ (व्याख्याते) व्याख्यात समझिये ॥ ७ ॥

यदि कहो कि द्रव्यत्व और नित्यत्व भी माना परन्तु एकत्व कैसे? तो उत्तर-

८७-तत्त्वं भावेन ॥ ८ ॥

(तत्त्वं) तत्त्व=एकत्व (भावेन) सत्ता से समझिये ॥

जिस प्रकार " होना "=सत्ता में लिङ्ग की अविशेषता और विशेष लिङ्ग के न होने से सत्ता एक बताई गई, इसी प्रकार वरे परे आदि काल-लिङ्गों में विशेष चिन्ह न होने, और चिन्हों में विशेष न होने से काल भी एक ही पदार्थ सिद्ध है। किन्तु वास्तव में काल एक होने पर भी उपाधि से काल में अनेकता (क्षण, लव, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष, युग, कल्पादि भेद व्यवहृत होते हैं ॥ ८ ॥

८८-नित्येष्वभावादऽनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति ॥ ९ ॥

(नित्येषु) नित्यों में (अभावात्) न होने से और (अनित्येषु) अनित्यों में (भावात्) होने से (कारणे) कारण में (कालाख्या) काल संज्ञा है (इति) यह कालपरीक्षा प्रकरण समाप्त हुआ ॥

नित्य पदार्थ आत्मा आकाश आदि में काल (वरला, परला, चिर, शीघ्र आदि प्रत्ययहेतुक) नहीं रहता, और अनित्य मनुष्य पशु पक्षी घट पट आदि पदार्थों में काल (सायं, प्रातः, दिन, रात्रि, मास, वर्ष आदि) रहता है, इस हेतु से कारण की काल संज्ञा है अर्थात् काल को कारण और मनुष्य पशु पक्षी आदि को कार्य कहा जाता है। जैसा कि अथर्व १९। ५३ में कहा है कि-

कालोऽमूं दिवमऽजनयत् कालइमाः पृथिवीरुत ।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वितिष्ठते ॥ ५ ॥
कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ॥ १० ॥
कालादापः समभवन् ॥ १९ । ५४ । १ ॥

काल ने इस द्युलोक को उत्पन्न किया और काल ने इन पृथिवियों को उत्पन्न किया। काल में भूत, भविष्यत् सब ही स्थित है ॥५॥ काल ने आरम्भ में प्रजापति और प्रजाओं को उत्पन्न किया ॥ १० ॥ काल से अप् उत्पन्न हुवे १९ । ५४ । १ ॥

इत्यादि में काल को भी सूर्य पृथिवी आदि की उत्पत्ति का कारण कहा गया है ॥ ९ ॥

काल की परीक्षा करके आगे दिशा की परीक्षा करते हैं:-

८९-इतइदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम् ॥ १० ॥

(इतः) इस ओर से (इदम्) यह है (इति) यह व्यवहार (यतः) जिस कारण से होता है (तत्) वही (दिश्यं) दिशा का (लिङ्गम्) लिङ्ग है ॥

दिशा न होती तो इधर पूर्व, इधर पश्चिम, इधर उत्तर वा दक्षिण से यह आता है, जाता है, रहता है, इत्यादि व्यवहार नहीं चलते। इन व्यवहारों का होना जिस कारण से होता है, वही कारण पदार्थ दिशा कहाता है ॥ १० ॥

९०-द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ११ ॥

(द्रव्यत्वनित्यत्वे) [दिशा का भी] द्रव्य होना और नित्य होना (वायुना) वायु के नित्यत्व और द्रव्यत्व कथन से (व्याख्याते) कहेगये ॥

जिस प्रकार वायु अपने स्पर्श लिङ्ग से द्रव्य और कार्य न होने से नित्य है, इसी प्रकार दिशा भी अपने इधर उधर पूर्व पश्चिमादि व्यवहार लिङ्गों से द्रव्य और कार्य न होने से नित्य है। यह नित्यता व्यावहारिक है ॥११॥

९१-तत्त्वं भावेन ॥ १२ ॥

(तत्त्वं) एकत्व (भावेन) भाव के साथ व्याख्यात है ॥

जिस प्रकार सत्ता=भाव की एकता कही थी इसी प्रकार दिशा की एकता समझनी चाहिये। यद्यपि पूर्वादि भेद से दिशा ४ वा कोणों को गिन कर ८ या ऊपर नीचे को गिनकर ६ वा १० दिशा भी कहाती हैं, परन्तु दिशापन के सामान्य से एक ही है ॥ १२ ॥

तो फिर दिशा अनेक क्यों कहाती हैं? उत्तर-

९२-कार्यविशेषेण नानात्वम् ॥ १३ ॥

(कार्यविशेषेण) कार्यविशेष से (नानात्वम्) दिशाओं की अनेकता है ॥ १३ ॥ प्र०-कार्यविशेष क्या है? उत्तर-

९३-आदित्यसंयोगाद्भूतपूर्वाद्भविष्यतोभूताच्च प्राची ॥१४॥

(भूतपूर्वात्) पहले हो चुके (च) और (भूतात्) अब होते हुये (भविष्यतः) तथा आगे होने वाले (आदित्यसंयोगात्) सूर्योदय के संयोग से (प्राची) पूर्व दिशा का नाम होगया ॥

जिस दिशा से पहले सूर्य उदय हुआ, अब उदय होता है, आगे उदय होगा, उस दिग्विभाग को पूर्व दिशा कहते हैं। इस सूत्र में भूत=उदित= उदय होकर वर्तमान अर्थ में भूत शब्द है, क्योंकि भूतकालार्थक एक दूसरा शब्द भूतपूर्वात् पड़ा है ॥ १४ ॥

८४-तथा दक्षिणा प्रतीच्युदीची च ॥ १५ ॥

(तथा) इसी प्रकार (दक्षिणा) दक्षिण (प्रतीची) पश्चिम (च) और (उदीची) उत्तर दिशा है ॥

जिस प्रकार सूर्य के उदय काल की दिशा का नाम पूर्व है, इसी प्रकार उदय की अपेक्षा से ठीक सामने की पश्चिम, दहिने की दक्षिण और बायें की उत्तर कहाती है ॥ १५ ॥

८५-एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥ १६ ॥

(एतेन) इसी से (दिगन्तरालानि दिशाओं के बीच के भाग (व्याख्यातानि) कहे गये समझने चाहियें ॥

सूर्योदय से जो व्यावहारिक संज्ञा पूर्व पश्चिम दक्षिण उत्तर नियत करली गई हैं, उसी से यह भी समझ लेना चाहिये कि पूर्व दक्षिण के मध्य में कोण वा अन्तराल का नाम आग्नेय, दक्षिण पश्चिम के अन्तराल का नाम नैर्ऋत, पश्चिम उत्तर का बीच=वायव्य और उत्तर पूर्व का अन्तर्वर्ती दिग्भाग ऐशान्य कहाता है ॥ १६ ॥

दिशा की परीक्षा समाप्त हुई। आगे शब्द की परीक्षा करेंगे, उस का अङ्ग समझ कर प्रथम कारण और लक्षण से संशय को उत्पन्न करते हैं:-

८६-सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाऽप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः ॥ १७ ॥

(सामान्यप्रत्यक्षात्) सामान्य प्रत्यक्ष होने, (विशेषाऽप्रत्यक्षात्) विशेष प्रत्यक्ष न होने (च) और (विशेषस्मृतेः) विशेष के स्मरण से (संशयः) संशय होता है ॥

जब कि समझना चाहने वाला पुरुष, किसी वस्तु के सामान्य धर्म को तो जान लेता है, और विशेष धर्म को किसी निमित्त से नहीं जान पाता वा नहीं जान सकता और विशेष का स्मरण मात्र करता है, परन्तु विशेष को पाता नहीं, तब जो द्विविधायुक्त प्रत्यय होता है, वह संशय कहाता है। जैसे अपने सामने खड़े किसी पत्थर के वा काष्ठ के बने पुरुष चित्र को देख कर सामान्य बातें जो पुरुष में होती हैं, वे चित्र में भी होती हैं, उन से यह निश्चय नहीं होता कि यह पुरुष है, वा स्थाणु, वा चित्र, अब देखने वाला चाहता है कि कोई विशेष-श्वास लेना, पलक मारना, बोलना, चलना, फिरना, सुखदुःखादि का अनुभव करना इत्यादि चिन्ह पाऊं तब निश्चय करूं कि यह पुरुष है, स्थाणु नहीं, परन्तु वह यह भी शोचता है कि कदाचित् विशेष हों और मैंने उनकी पहचान न पाये हों, बस जब तक स्थाणु है वा पुरुष; इन दोनों में से एक का अवधारण (फ़ैसला) बुद्धि में न आजावे, तब तक जो उभयपक्षचञ्चल ज्ञान रहता है, वह संशय कहाता है ॥ १७ ॥

९७—दृष्टं च दृष्टवत् ॥ १८ ॥

(च) और (दृष्टं) प्रत्यक्ष (दृष्टवत्) प्रत्यक्षों के तुल्य है ॥

अर्थात् संशय तब होता है, जब एक दृष्ट पदार्थ दूसरे दृष्ट पदार्थों के समान हो और विशेष स्मरण आता हो, पर जाना न जाता हो ॥

९८—यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ॥ १९ ॥

(च) और (यथादृष्टं) जैसा देखा था, उस के (अयथादृष्टत्वात्) अन्य प्रकार से देखने से ॥

देवदत्त को एक काल में हमने जटा रखाये देखा, यज्ञदत्त को मूंड मुंडाये देखा, फिर दूसरे समय में शिर पर दुपट्टा बांधे हुवे देवदत्त वा यज्ञदत्त को देखा तो हम को यह संशय होगा कि जटिल है, वा मुण्ड। क्योंकि पहले जब कि हमने देखा था तब खुले शिर देखा था, अब शिर पर वस्त्र बांधे देखते हैं, तो अयथादृष्ट होने से जटिलत्व वा मुण्डत्व का संशय हुवा ॥

९९—विद्याऽविद्यातश्च संशयः ॥ २० ॥

(च) तथा (विद्याऽविद्यातः) विद्या और अविद्या से (संशयः) भी संशय होता है ॥

पूर्व जो संशय कहा था वह दृष्ट अदृष्ट यथादृष्ट अयथादृष्ट में था, यह दूसरा संशय केवल जानने न जानने से वा विपरीत जानने से होता है॥

आगे संशय के उदाहरणार्थ शब्दविषयक संशय दिखाने को लक्षणपूर्वक शब्द का निरूपण करते हैं:-

१००-श्रोत्रग्रहणोयोऽर्थः स शब्दः ॥ २१ ॥

(यः) जो (अर्थः) विषय (श्रोत्रग्रहणः) श्रवणेन्द्रिय से ग्रहण किया जावे (सः) वह (शब्दः) शब्द है॥

आगे इस शब्द में संशय दिखाते हैं:-

१०१-तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथादृष्टत्वात् ॥ २२ ॥

(तुल्यजातीयेषु) शब्द के तुल्य जातिवाले रूपादि गुणों और (अर्थान्तरभूतेषु) अन्य द्रव्यादि अर्थों में (विशेषस्य) विशेष के (उभयथादृष्टत्वात्) दोनों प्रकार देखे जाते होने से [संशय होता है कि शब्द रूपादि गुणों में कोई गुण है, वा पृथिव्यादि द्रव्यों में कोई द्रव्य है, वा उत्क्षेपणादि कर्मों में कोई कर्म है, क्या है ?

अर्थात् शब्द श्रवणेन्द्रिय से ग्रहण होता है, इतने से यह निश्चय नहीं होता कि शब्द गुण है, वा कर्म है, वा द्रव्य है, क्योंकि श्रवण से सुनाई पड़ना जो शब्द का विशेष धर्म है, वह गुणों द्रव्यों वा कर्मों में उभयत्र देखते हैं॥

अब संशय का निवारण करने को कहते हैं कि-

१०२-एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम् ॥ २३ ॥

(एकद्रव्यत्वात्) एक द्रव्य वाला होने से (द्रव्यम् न) शब्द द्रव्य नहीं है॥

जो कार्यद्रव्य होते हैं, वह एक द्रव्य वाले नहीं होते, परन्तु शब्द-एक द्रव्य (आकाश) वाला है, अतएव द्रव्य नहीं ॥

शब्द के द्रव्यत्व का संशय दूर हुवा । अब कर्मत्व का संशय हटाते हैं:-

१०३-नाऽपि कर्माऽचाक्षुषत्वात् ॥ २४ ॥

(अचाक्षुषत्वात्) आंख का विषय न होने से (नाऽपि) न ही (कर्म) कर्म हो सकता है॥

शब्द कर्म भी नहीं है, क्योंकि आंख से नहीं दीख पड़ता। यदि कर्म होता तो आंख से दीखता॥

यदि कहो कि जैसे कर्म शीघ्र नष्ट हो जाता है, वैसे ही शब्द भी शीघ्र नष्ट हो जाता है, तब शब्द को कर्म क्यों न मान लें? तो उत्तरः-

१०४-गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिःसाधर्म्यम् ॥ २५ ॥

(गुणस्य) गुण (सतः) होते हुवे [शब्द] का (अपवर्गः) नाश (कर्मभिः) कर्मों से (साधर्म्यम्) साधर्म्य है॥

जब कि शब्द द्रव्य नहीं, कर्म नहीं, इन दोनों बातों को पूर्व दो सूत्रों में कह चुके और परिशेष से शब्द का गुण होना सिद्ध है, तब केवल आशु विनाशी होना मात्र शब्द के कर्मत्व को निश्चय नहीं कराता, केवल शीघ्र विनाशीपना शब्द का, कर्मों से आंशिक साधर्म्य मात्र है। किन्तु यह नियम तो नहीं कि जो जो शीघ्रनाशवान् हो, वह २ कर्म ही हो। क्योंकि संख्या, ज्ञान, सुख, दुःख इत्यादि भी तो शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, क्या इतने मात्र साधर्म्य से ये कर्म हो जाते हैं? जब नहीं, तो शीघ्रविनाशित्व मात्र साधर्म्य से शब्द को भी कर्म नहीं कह सकते॥ और

१०५-सतोलिङ्गाऽभावात् ॥ २६ ॥

(सतः) अविनाशी का (लिङ्गाऽभावात) लिङ्ग न होने से [नित्य नहीं मान सकते]॥

कोई लिङ्ग नहीं पाया जाता जिस से शब्द को अविनाशी वा नित्य मान सकें॥ तथा-

१०६-नित्यवैधर्म्यात् ॥ २७ ॥

(नि-र्म्यात) नित्य वैधर्म्य से [शब्द नित्य नहीं]॥

नित्य पदार्थ के धर्म हैं कि वह उत्पन्न और नष्ट न हो, परन्तु शब्द उत्पन्न और नष्ट भी होता है, इस लिये शब्द का नित्य पदार्थों से धर्म नहीं मिलता किन्तु वैधर्म्य है, इस वैधर्म्य से शब्द अनित्य है॥

१०७-अनित्यश्चाऽयं कारणतः ॥ २८ ॥

(अयं) यह शब्द (कारणतः) कारण से (च) भी (अनित्यः) अनित्य है॥

शब्द अनित्य है, कारण वाला होने से, जैसे घट अनित्य है, कारण वाला होने से ॥

यदि कहो कि शब्द का कारणवान् होना ही कहां सिद्ध है? तो उत्तर

१०८—नचाऽसिद्धं विकारात् ॥ २९ ॥

(विकारात्) विकार से (असिद्ध) शब्द का कारणवान् होना असिद्ध (च) भी (न) नहीं ॥

क्योंकि शब्द विकारयुक्त है, कार्य है, अतएव उस का कारणवत्त्व असिद्ध नहीं॥

यदि कहो कि हम तो शब्द की अभिव्यक्ति मात्र मानते हैं, उत्पत्ति नहीं, तो उत्तरः-

१०९—अभिव्यक्तौ दोषात् ॥ ३० ॥

(अभिव्यक्तौ) अभिव्यक्ति में (दोषात्) दोष से ॥

अभिव्यक्ति में दोष है इस लिये अभिव्यक्ति मानना ठीक नहीं । दोष यह है कि शब्द को अभिव्यक्त मानें तो एक अक्षर के अभिव्यञ्जक कारण से समस्त अक्षर अभिव्यक्त (प्रकट) हो जाते, पर ऐसा है नहीं, इस लिये समझना चाहिये कि शब्द अभिव्यक्त नहीं होता, किन्तु उत्पन्न होता है और उत्पत्ति अपने कारण आकाश से होती है॥ क्योंकि हम देखते हैं कि-

११०—संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ॥ ३१ ॥

(संयोगात्) संयोग से (विभागात्) विभाग से (च) और (शब्दात्) शब्द से (शब्दनिष्पत्तिः) शब्द उत्पन्न होता है ॥

प्रथम शब्द संयोग वा विभाग से उत्पन्न होता है, फिर शब्द से भी शब्द उत्पन्न होने लगता है । शब्द दो प्रकार का है, एक वर्णरूप, दूसरा ध्वनिरूप । वर्णरूप अ क च ट त प अथवा वर्ण जुड़ कर घट पट राम कृष्ण आदि शब्दरूप, अथवा मैं जाता हूं, तुम पढ़ते हो, इत्यादि वाक्यरूप, इसी प्रकार अध्यायरूप और ग्रन्थरूप भी । दूसरा ध्वनिरूप, जैसे लकड़ी टूटने, पत्ते हिलने, वा भेरी दुन्दुभि आदि बाजों में से निकलने वाला शब्द है । वर्णरूप शब्द संयोग और शब्द से निकलते हैं और ध्वनिरूप शब्द-संयोग, विभाग और शब्द, तीनों से निकलते हैं । वर्णात्मक शब्द का कारण कण्ठादिस्थान से वायु का संयोग है । वायु से चोट खाये हुए कण्ठादि का आकाश से संयोग होना असमवायी कारण है ॥

पूर्व अभ्यास किये वर्णों की स्मृति की अपेक्षा से आत्मा और मन के संयोग से पहले वर्णोच्चारण की इच्छा होती है, फिर प्रयत्न, उस प्रयत्न की अपेक्षा करते हुवे मन और वायु के संयोग से उदरस्थ वायु में कर्म होता है, उस से ऊपर को चलता हुवा वायु फिर कण्ठादि में चोट करता है, उस चोट से कण्ठादि आकाश से संयोग करते हैं, तब अक्षर (आकाश कारण से) उत्पन्न होते हैं। यह क्रम है॥

ध्वन्यात्मक शब्द में प्रथम नक्कारे और दण्डे का संयोग होता है, वह निमित्त कारण है, नक्कारे और आकाश का संयोग असमवायी कारण है। इसी प्रकार वंश के टूटने पर जो शब्द होता है, उस का निमित्त कारण विभाग है और वंश और आकाश का विभाग असमवायी कारण है। और जब एक स्थान का शब्द दूसरे दूर स्थान में सुनाई देता है, तब शब्द से शब्द उत्पन्न होता जाता है और परस्पर तार सा पुरता चला जाता है। क्योंकि जब हम दूरस्थ शब्द को सुनते हैं तो हमारे कान तो शब्दोत्पत्ति के स्थान तक जाते नहीं। शब्द स्वयं भी हम तक चलकर नहीं आसकता, क्योंकि शब्द गुण है और क्रियारहित है और विना प्राप्त हुवे को ग्रहण करना भी हमारे कानों वा किन्हीं अन्य इन्द्रियों का सामर्थ्य नहीं, तब फिर दूरस्थ शब्द क्यों सुनाई पड़ता है ? उत्तर में कहना पड़ेगा कि जहां शब्द हुवा, उस ने अपने समीप दूसरा शब्द उत्पन्न कर दिया, उस ने फिर और शब्द उत्पन्न कर दिया, जैसे जैसे पानी की एक लहर अपने से आगे लहर को उत्पन्न करती है और वह फिर उस से आगे एक अन्य लहर को उत्पन्न करती है। इसी प्रकार शब्द से शब्द उत्पन्न होता हुवा, दूरस्थ पुरुष के कानों को सुनाई पड़ता है और जिस प्रकार जलाशय में मृत्पिण्ड फेंकने से जो ऊंची लहरी वा तरङ्ग उत्पन्न होती है, वह फिर आगे अधिक फैली हुई कुछ नीची तरङ्ग को उत्पन्न करती है, उस से और भी नीची, और अन्त में कम होते २ तरङ्ग नहीं दीख पड़ती, इसी प्रकार तोपों तक के घोर भारी शब्द भी ज्यों २ दूर पहुंचते जाते हैं, कम होते जाते हैं। इस प्रकार शब्द से शब्दसन्तान में वायु आदि निमित्त कारण और पूर्व पूर्व शब्द असमवायी कारण है। और जितनी २ दूर में शब्द उत्पन्न होता है, उतना २ वहां २ का आकाश उस शब्द का समवायी कारण वा उपादान कारण होता है॥

यदि कहो कि शब्द की उत्पत्ति संयोगादि कारणों से हो, इतने से शब्द की नित्यता क्या सिद्ध हुई ? तो उत्तर—

१११-लिङ्गाच्चाऽनित्यः शब्दः ॥ ३२ ॥

(लिङ्गात्) लिङ्ग से (च) भी (शब्दः) शब्द (अनित्यः) अनित्य है॥
उत्पत्तिमान् होना शब्द का लिङ्ग है, उस से भी शब्द की अनित्यता सिद्ध है ॥ आगे पूर्व पक्ष करते हैं:-

११२-द्वयोस्तु प्रवृत्त्योरभावात् ॥ ३३ ॥

(द्वयोः) दोनों (तु) ही (प्रवृत्त्योः) प्रवृत्तियों के (अभावात्) अभाव से ॥

यदि शब्द अनित्य होता तो दोनों (गुरु शिष्यों) की प्रवृत्तियें न होतीं। क्योंकि अध्यापक जिस अनित्य शब्द को पढ़ाने में उच्चारण करता, वह तो उच्चारण करते ही नष्ट हो जाता, अतः फिर अध्येता शिष्य उसी शब्द की पुनरावृत्ति न कर सकता, क्यों कि गुरु का बताया तो उसी समय नष्ट हो गया समझना चाहिये, परन्तु हम देखते हैं कि गुरु के उच्चारण किये शब्दों को शिष्य ज्यों का त्यों बोलते हैं, जिस से शब्द अनित्य नहीं, किन्तु नित्य जान पड़ता है ॥ अन्य हेतु से भी शब्द अनित्य नहीं जान पड़ता कि-

११३-प्रथमाशब्दात् ॥ ३४ ॥

(प्र-ब्दात्) प्रथमा शब्द से ॥

ऐतरेय ब्राह्मण ३ । ३ में लिखा है कि-"त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमाम्" ऋग्वेद ३ । २७ । १ से ११ तक ऋचायें सामिधेनी संज्ञक हैं, उन में से प्रथमा (पहली) ऋचा को तीन वार पढ़ा जाता है और अन्त की ऋचा को भी। यदि शब्द अनित्य होता तो एक ऋचा ३ वार कैसे पढ़ी जाती क्योंकि एक वार पढ़ी हुई अगले क्षण में शब्द की अनित्यता से नष्ट हो जाती, इस से पाया जाता है कि शब्द अनित्य वा उच्चरितप्रध्वंसी नहीं, किन्तु स्थिर वा नित्य है ॥

इसी पक्ष में तीसरा हेतु और भी देते हैं कि:-

११४-सम्प्रतिपत्तिभावाच्च ॥ ३५ ॥

(संप्र-भावात्) ठीक २ पहचान रहने से (च) भी ॥

यदि शब्द अनित्य होता तो एक के शब्द को सुन कर दूसरा सम्प्रतिपत्ति=प्रत्यभिज्ञा=याद=पहचान कर ठीक २ उस का अनुकरण न कर

सकता। करता है, इस से जाना जाता है कि शब्द अनित्य नहीं, नित्य=स्थिर है॥

आगे उत्तर पक्ष करते हैं और तीनों पूर्वपक्षरूप हेतुओं का खण्डन करते हैं:-

११५-संदिग्धाः ॥ ३६ ॥

संदेह वाले हैं॥

पूर्वपक्ष में दिये हुये तीनों हेतु संदिग्ध हैं, इस लिये उन से शब्द की अनित्यता नहीं सिद्ध होती। देवदत्त ने यज्ञदत्त को गाना वा नाचना सिखाया। अब यज्ञदत्त भी वही नाच नाचता है, जो देवदत्त ने स्वयं नाच कर बताया था। इस में यह निश्चय नहीं होता कि देवदत्त के ही नृत्य को यज्ञदत्त पुनः करता है, किन्तु यह भी तो होसकता है कि जिस प्रकार देवदत्त अपने नृत्य का स्वतन्त्र कर्ता है, उसी प्रकार एक उसी प्रकार के दूसरे नृत्य का स्वतन्त्र कर्ता यज्ञदत्त हो। एक कुम्भकार ने एक घड़ा बनाया, उसे देख कर दूसरे कुम्भकार ने दूसरा घड़ा बनाया, तब क्या यह कह सक्ते हैं कि घट अनित्य नहीं, क्योंकि घट अनित्य होते तो एक घट के समान दूसरा घट न बनता। बस जिस प्रकार यह हेतु संदिग्ध वा अनैकान्तिक है वैसे ही शब्द की नित्यता पर दिये हेतु भी संदिग्ध और अनैकान्तिक हैं। गुरु जिस शब्द को बोलता है, शिष्य सुनता है, सुनकर जानता है, जान कर वैसा ही एक दूसरा शब्द बोलता है, इसी प्रकार सामिधेनी ऋचाओं में प्रथमा और अन्तिमा ऋचा का त्रिरुच्चारण क्या शतवार उच्चारण क्यों न हो, सब स्वतन्त्र एक ही प्रकार उच्चरित शब्द एक नहीं होते किन्तु एकाकार अनेक होते हैं, और अनित्य हैं॥

११६-सति बहुत्वे संख्याभावः सामान्यतः ॥ ३७ ॥

(बहुत्वे) बहुतायत (सति) होने पर भी (संख्याभावः) संख्या का होना (सामान्यतः) सामान्य से है॥

यद्यपि शब्द के अनित्य होने से वर्णात्मक शब्द भी बहुत होने चाहियें, न केवल पाणिनीय शिक्षा (त्रिषष्टिः) सूत्रानुसार ६३ ही वर्ण हों। परन्तु सामान्य से संख्या (६३) होगई है अर्थात् ६३ से भिन्न अधिक वर्ण भी कोई बोलता है तो भी वे सामान्य से अर्थात् इन्हीं तरेसठ ६३ के कुछ समान होने से इन्हीं में गिन लिये जाते हैं। जो लोग ६३ न मानकर ३३ व्यञ्जन और

९ स्वर गिनते हैं, वे ४२ अक्षरों के सामान्य में ही सब विशेषों का अन्तर्भाव कर लेते हैं। जो और अधिक भेद गिनने लगें तो एक अकार के ही १८ भेद कल्पित करते हैं॥

इति द्वितीयाऽध्यायस्य

द्वितीयमान्हिकम्

इति श्री तुलसीरामस्वामि कृते

वैशेषिकदर्शन भाषानुवादे

द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥



ओ३म्

अथ तृतीयोऽध्यायः

पृथिवी आदि ७ [illegible] द्रव्यों की परीक्षा द्वितीयाऽध्याय में हो चुकी। अब शेष रहे आत्मा और मन; इन में से उद्देशक्रमानुसार प्रथम आत्मा की परीक्षा करेंगे। उन में प्रथम आत्मसिद्धि के लिये हेतु दिखलाने को भूमिका बांधते हैं कि:-

११७-प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥ १ ॥

(इन्द्रियार्थाः) इन्द्रियों के विषय (प्रसिद्धाः) प्रसिद्ध हैं ॥

अर्थात सभी जानते हैं कि नाक से गन्ध, जिह्वा से रस, आंख से रूप, त्वचा से स्पर्श, और कान से शब्द सुनाई पड़ कर ज्ञान होता है॥ १ ॥ तब-

११८-इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥ २ ॥

(इन्द्रि-द्धिः) इन्द्रियों के अर्थों की प्रसिद्धि (हेतुः) साधक है (इन्द्रियार्थेभ्यः) इन्द्रियार्थों से (अर्थान्तरस्य) अन्य अर्थ का ॥

इन्द्रियार्थों को तो लोग जानते ही हैं, इसी से यह भी प्रमाणित होता है कि कोई अन्य पदार्थ है जो नाक से सूंघ कर, जिह्वा से चाख कर, आंख से देख कर, त्वचा से छूकर और कान से सुन कर इन विषयों का ग्रहण करता है, वह आत्मा है ॥

यदि कहो कि इन्द्रियार्थों से भिन्न कोई पदार्थ होना तो चाहिये किन्तु वह पदार्थ शरीर ही क्यों न मान लिया जावे ? तद्भिन्न आत्मा के मानने की क्या आवश्यकता है ? सो उत्तर:—

११९-सोऽनपदेशः ॥ ३ ॥

(सः) वह हेतु (अनपदेश) अहेतु है ॥

शरीर को ज्ञानाश्रय सिद्ध करने वाला वह हेतु अहेतु वा हेत्वाभास होगा, क्योंकि जो जिस के आश्रित हो वह उस का कार्य हो, यह नियम नहीं है।

हम देखते हैं कि घट पटादि पदार्थों के जानने में यद्यपि दीपक वा सूर्यादि का प्रकाश भी कारण है तथापि कोई नहीं कह सकता कि सूर्यादि का प्रकाश द्रष्टा है, किन्तु साधन मात्र है। इसी प्रकार रूपादि ज्ञान का आश्रय शरीर होने पर भी ज्ञान का समवायि कारण शरीर नहीं, किन्तु उस से भिन्न आत्मा है ॥ ३ ॥ क्योंकि-

१२०-कारणाऽज्ञानात् ॥ ४ ॥

(कारणाज्ञानात्) कारण में ज्ञान न होने से ॥

शरीर ज्ञान का आश्रय (समवायी कारण) इस लिये नहीं हो सकता कि शरीर के कारण पञ्च तत्वों में ही ज्ञान नहीं, जब कारण में ज्ञान नहीं तब कार्य में कहां से हो सकता है ॥ ४ ॥

यदि कहो कि हम तो पञ्च भूतों में ज्ञान मानते हैं, तद्भिन्न आत्मा को क्यों मानें ? तो उत्तर-

१२१-कार्येषु ज्ञानात् ॥ ५ ॥

(कार्येषु) घट पटादि पञ्चभूतकार्यों में (ज्ञानात्) ज्ञान होना चाहिये था ॥

यदि पञ्चतत्त्व चेतन होते तो उन का कार्य समस्त घट पट मठ मन्दिर सब चेतन ज्ञानी होता, जड़ कोई होता ही नहीं, परन्तु ऐसा नहीं पाया जाता, इस से पञ्च भूतों में ज्ञान मानना ठीक नहीं ॥ ५ ॥ प्रत्युत-

१२२-अज्ञानाच्च ॥ ६ ॥

(अज्ञानात्) अज्ञान से (च) भी ॥

पञ्चतत्त्वों में अज्ञान का प्रमाण यह है कि उन के कार्य घट पटादि में कोई ज्ञान नहीं पाया जाता, अज्ञान देखा जाता है, इस से भी सिद्ध है कि न पञ्चभूतों में ज्ञान है, न उन के कार्य घट पटादि में है, न शरीर में हो सकता है, किन्तु ज्ञान का आश्रय तो आत्मा है, जो शरीरादि से व्यतिरिक्त है ॥

इस विषय की पुष्टि समान तन्त्र न्यायदर्शन ३। १। १—१५ तक सूत्रों में किस प्रकार की गई है, सो पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे लिखते हैं:-

" दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ न्यायद० ॥१॥

उत्तरपक्ष-दर्शन और स्पर्शन से एक ही अर्थ का ग्रहण होने से (आत्मा) देहादि से भिन्न है) ॥

जिस विषय को हम आंख से देखते हैं, उसी को त्वचा से स्पर्श भी करते हैं। नींबू को देखकर रसना में पानी भर आता है। यदि इन्द्रिय ही चेतन होते तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता था, क्योंकि "अन्यदृष्टमन्यो न स्मरति" देवदत्त के देखे हुवे अर्थ का यज्ञदत्त को कभी स्मरण नहीं होता। फिर आंख के देखे हुवे विषय का जिह्वा से वा त्वचा से क्योंकर अनुभव किया जाता। जो कि हम विना किसी सन्देह के एक इन्द्रिय के अर्थ को दूसरे इन्द्रिय से ग्रहण करते हैं, इस से सिद्ध है कि उस अर्थ के ग्रहण करने में इन्द्रिय स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु इन के अतिरिक्त ग्रहीता कोई और है जो इन के द्वारा एककर्तृक अनेक प्रत्ययों को ग्रहण करता है और वही चेतन आत्मा है॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

न, विषयव्यवस्थानात्॥ २॥

पू०-उक्त कथन ठीक नहीं है, विषयों की व्यवस्थिति होने से॥

देहादि संघात के अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है, विषयों की व्यवस्था होने से। इन्द्रियों के विषय नियत हैं, आंख के होने पर रूप का ज्ञान होता है, न होने पर नहीं होता और यह नियम है कि जो जिस के होने पर होता और न होने पर नहीं होता, वह उसी का समझा जाता है। इस लिये रूपज्ञान नेत्र का है क्योंकि वही उस को देखता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रिय भी अपने २ अर्थज्ञान में स्वतन्त्र हैं। जब इन्द्रियों के होने से ही विषयों की उपलब्धि होती है तब उन से भिन्न अन्य किसी चेतन की कल्पना क्यों की जाय? अब इस का समाधान करते हैं:-

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः॥ ३॥

उ०-उक्त विषयव्यवस्थिति से ही आत्मा की सिद्धि होने से निषेध नहीं हो सकता॥

इन्द्रियों के विषयों की व्यवस्था होने से ही (उन से भिन्न चेतन) आत्मा की सत्ता माननी पड़ती है। यदि इन्द्रियों के विषय नियत न होते अर्थात् एक इन्द्रिय से दूसरे इन्द्रिय के विषय का भी ग्रहण हो सकता, तब तो उन में स्वतन्त्रता की कल्पना की जासकती थी। परन्तु जिस दशा में कि उन के विषय नियत हैं अर्थात् आंख से रूप का ही ग्रहण होता है, न कि गन्धादि अन्य विषयों का। इस से यह सिद्ध होता है कि सब विषयों का

ज्ञाता चेतन आत्मा जो इन्द्रियों से अपने २ विषयों को ही ग्रहण कराता है, उन से भिन्न है ॥

इन्द्रियचैतन्यवादियों के मत का खण्डन करके, अब देहात्मवादियों का खण्डन करते हैं:-

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥ ४ ॥

उ०-शरीर को जलाने में पाप न होने से (आत्मा शरीर से पृथक् है) ॥

यदि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है तो मृत शरीर को जलाने में पाप होना चाहिये, परन्तु पाप सजीव शरीर को जलाने में होता है, न कि मृत शरीर को ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ॥ ५ ॥

पू०-उस (आत्मा) के नित्य होने से सजीव शरीर के जलाने में भी पाप न होना चाहिये ॥

सजीव शरीर के जलाने में भी पाप का अभाव होना चाहिये, आत्मा के नित्य होने से क्योंकि जो देह से भिन्न आत्मा को मानते हैं, वे उस को नित्य भी मानते हैं। यथा-"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" ॥ अर्थात् आत्मा न कभी उत्पन्न होता और न मरता है, न कभी उत्पन्न हुवा न होगा, न मरा न मरेगा, वह अज, नित्य, सनातन और पुराण है, शरीर के नाश होने पर उस का नाश नहीं होता। तथा आगे चलकर उसी गीता में कहा है:-"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः" ॥ अर्थात् आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि नहीं जला सकता, जल गला नहीं सकते और पवन सुखा नहीं सकता है। जब ऐसा है तो फिर आत्मा सहित शरीर के जलाने में भी कुछ पाप नहीं होना चाहिये, क्योंकि नित्य आत्मा की कोई हिंसा नहीं कर सकता। यदि कहो कि हिंसा होती है तो आत्मा का नित्यत्व न रहेगा। इस प्रकार पहिले पक्ष में हिंसा निष्फल होती है और दूसरे पक्ष में उस की उपपत्ति नहीं होती॥

अब इस का समाधान करते हैं:-

न, कार्याश्रयकर्तृवधात् ॥ ६ ॥

उ०-शरीर और इन्द्रियों के उपघात होने से (पूर्वपक्ष) ठीक नहीं ॥

इस सूत्र में गोतम मुनि अपना अन्तिम सिद्धान्त कहते हैं । हम नित्य आत्मा के वध को हिंसा नहीं कहते किन्तु कार्याश्रय शरीर और विषयोपलब्धि के कारण इन्द्रियों के उपघात (जिस से आत्मा में विकलता उत्पन्न होती है) को हिंसा कहते हैं । सुख दुःखरूप कार्य हैं, उन का संवेदन शरीर के द्वारा किया जाता है, इस लिये वह कार्याश्रय कहाता है और इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण किया जाता है, इस लिये उन में कर्तृत्व का व्यपदेश किया है तो उस शरीर और इन्द्रियों के प्रबन्ध का जो उच्छेद करना है, इसी का नाम हिंसा है, इस लिये हमारे मत में उक्त दोष नहीं आता ॥

अब आत्मा के देहादि संघात से भिन्न होने में दूसरा हेतु देते हैंः-

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ७ ॥

उ०-बाईं आंख से देखी हुई वस्तु का दाहिनी आंख से प्रत्यभिज्ञान होने से (आत्मा देहादि से पृथक् है) ॥

पूर्वापर ज्ञान के मेल को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । जैसे-यह वही यज्ञदत्त है जिस को मैंने वाराणसी में देखा था । बाईं आंख से देखी हुई वस्तु की जो दाहिनी आंख से प्रत्यभिज्ञा होती है इस से सिद्ध होता है कि उस प्रत्यभिज्ञा का कर्ता इन्द्रियों से भिन्न कोई और ही पदार्थ है । यदि इन्द्रिय ही चेतन होते तो बाईं आंख से देखी हुई वस्तु को दाईं आंख कभी नहीं पहचान सकती थी, क्योंकि देवदत्त के देखे हुवे को यज्ञदत्त नहीं जान सकता ॥

इस पर आक्षेप करते हैंः-

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ॥ ८ ॥

पू०-नाक की हड्डी का आवरण होने से एक में दो का अभिमान होने से (यह कथन) युक्त नहीं है ॥

वास्तव में चक्षु इन्द्रिय एक ही है, नाक की हड्डी के बीच में आजाने से लोगों को दो की भ्रान्ति हो रही है । जैसे किसी तड़ाग में पुल बान्ध देने से दो तड़ाग नहीं हो जाते, ऐसे ही एक मस्तक में नाक का व्यवधान होने से आंख दो वस्तु नहीं हो सकतीं । अतएव प्रत्यभिज्ञा कैसी ?

अब इस आक्षेप का समाधान करते हैंः-

एकविनाशे द्वितीयाऽविनाशान्नैकत्वम् ॥ ९ ॥

उ०-एक के नाश होने पर दूसरी का नाश न होने से एकता नहीं हो सकती॥

यदि चक्षु इन्द्रिय एक ही होता तो एक आंख के नष्ट होने पर दूसरी भी नहीं रहती, परन्तु यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि एक आंख के फूट जाने पर दूसरी शेष रहती है और उस से आंख का काम लिया जाता है। इस लिये चक्षु एक नहीं॥ पुनः पूर्वपक्षी इस पर आक्षेप करता हैः-

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः॥ १०॥

पू०-अवयव का नाश होने पर भी अवयवी की उपलब्धि होने से (उक्त हेतु) अहेतु है॥

उक्त हेतु ठीक नहीं है क्योंकि अवयव के नाश होने पर भी अवयवी की उपलब्धि देखने में आती है। जैसे-वृक्ष की किन्हीं शाखाओं के कट जाने पर भी वृक्ष की उपलब्धि होती है, ऐसे ही अवयव रूप एक चक्षु के विनाश होने पर भी दूसरे चक्षु में अवयवी की उपलब्धि शेष रहती है। इस लिये चक्षुद्वैत मानना ठीक नहीं॥

अब सिद्धान्त सूत्र के द्वारा समाधान करते हैंः-

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः॥ ११॥

उ०—दृष्टान्त के विरोध से निषेध नहीं हो सकता॥

दृष्टान्त के विरोध से चक्षुद्वैत का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे शाखायें वृक्ष रूप अवयवी का अवयव हैं, तद्वत् एक चक्षु दूसरे चक्षु का अवयव नहीं अर्थात वे दोनों ही अवयव हैं। अवयवी उन का कोई और है। अतः दृष्टान्त में विरोध आने से निषेध युक्त नहीं। अथवा दृश्यमान अर्थ के विरोध को दृष्टान्तविरोध कहते हैं। मृत मनुष्य के कपाल में नासास्थि का व्यवधान होने पर भी दो छिद्र भिन्न २ रूप से स्पष्ट दीख पड़ते हैं। यों तो हृदय का व्यवधान होने से दोनों हाथों को भी कोई एक कह सकता है, परन्तु यह दृश्यमान अर्थ का साक्षाद्विरोध है इस लिये चक्षुरैक्य ठीक नहीं और जब चक्षु दो सिद्ध हो गये, तब एक के देखे हुवे अर्थ की दूसरे को प्रत्यभिज्ञा होना यह सिद्ध करता है कि उस प्रतिभिज्ञा का कर्त्ता इन्द्रियों से भिन्न कोई और ही पदार्थ है और वही चेतन आत्मा है॥

फिर उसी की पुष्टि करते हैंः—

इन्द्रियान्तरविकारात्॥ १२॥

भा०-(किसी इन्द्रिय से उस के विषय को ग्रहण करने पर) अन्य इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होने से (आत्मा देहादि से पृथक् है)॥

किसी अम्ल द्रव्य को चक्षु से देखने अथवा घ्राण से उस का गन्ध ग्रहण करने पर रसना में विकार उत्पन्न होता है, अर्थात् मुंह में पानी भर आता है। यदि इन्द्रियों को ही चेतन माना जावे तो यह बात हो नहीं सकती कि अन्य के देखे को कोई और स्मरण करे। इस लिये इन्द्रियों से पृथक् कोई आत्मा है॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:—

न, स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात्॥ १३॥

पू०—स्मृति के स्मर्त्तव्यविषयिणी होने से (पृथक् आत्मा के मानने की कोई आवश्यकता) नहीं॥

स्मरणयोग्य विषयों का अनुभव करना स्मृति का धर्म है, वह स्मृति स्मर्त्तव्य विषयों के योग से उत्पन्न होती है, उसी से इन्द्रियान्तरविकार उत्पन्न होते हैं। जिस मनुष्य ने एक बार निंबू के रस को चाखा है, दूसरी बार उस को स्मरण करने से उस के मुंह में पानी भर आता है, सो यह स्मृति का धर्म है, न कि आत्मा का॥ अब इस का समाधान करते हैं:—

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः॥ १४॥

भा०—उस के आत्मगुण होने से (आत्मा का) निषेध नहीं हो सकता॥

स्मृति कोई द्रव्य नहीं है, किन्तु वह आत्मा का एक गुण है, इस लिये उक्त आक्षेप युक्त नहीं है। जब स्मृति आत्मा का गुण है तभी तो अन्य के देखे का अन्य को स्मरण नहीं होता। यदि इन्द्रियों को चेतन मानोगे तो अनेक कर्त्ता होने से विषयों का प्रतिसन्धान न होसकेगा, जिस से विषयों की कोई व्यवस्था न रहेगी अर्थात् कोई देखेगा और कोई स्मरण करेगा और यह हो नहीं सकता। यह व्यवस्था तो तभी ठीक रह सकती है जब कि अनेक अर्थों का एक द्रष्टा भिन्न २ निमित्तों के योग से पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण करता हुआ इन्द्रियान्तरविकारों को उत्पन्न करता है, ऐसा माना जायगा। क्योंकि अनेक विषयों के द्रष्टा को ही दर्शन के प्रतिसन्धान से स्मृति का होना सिद्ध हो सकता है, अन्यथा विना आधार के स्मृति किस में रहे? इस के अतिरिक्त "मैं स्मरण करता हूं" यह प्रत्यय (जो विना किसी भेद के प्रत्येक मनुष्य को होता है) भी स्मृति का आत्मगुण होना सिद्ध करता है॥

पुनः उसी की पुष्टि करते हैं:—

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ॥ १५ ॥

उ०–स्मृतिविषय का परिगणन न करने से भी (यह शङ्का उत्पन्न हुई है)॥

स्मृतिविषय के विस्तार और तत्व पर ध्यान न देकर प्रतिवादी ने यह आक्षेप किया है कि "स्मर्त्तव्य विषयों को स्मरण करना स्मृति का काम है" वास्तव में स्मृति का विषय बड़ा लम्बा और गहरा है। "मैंने इस अर्थ को जाना, मुझ से यह अर्थ जाना गया, इस विषय में मुझ से जाना गया, इस विषय का मुझ को ज्ञान हुआ, यह जो चार प्रकार का परोक्षज्ञान है, यही स्मृतिका मूल है, इसमें सर्वत्र ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों की उपलब्धि होती है। अब प्रत्यक्ष अर्थ में जो स्मृति होती है, उस से तीन प्रकार के ज्ञान एक ही अर्थ में उत्पन्न होते हैं। उदाहरण—"जिस को मैंने पहले देखा था, उसी को अब देख रहा हूं" इस में दर्शन, ज्ञान और प्रत्यय ये तीनों संयुक्त हैं। सो यह एक अर्थ तीन प्रकार के ज्ञानों से युक्त हुवा न तो अकर्त्तृक है और न नानाकर्त्तृक किन्तु एककर्त्तृक है, क्योंकि एक ही सब विषयों का ज्ञाता अपने सम्पूर्ण ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है। "इस अर्थ को जानूंगा, इस को जानता हूं, इसे जाना और अमुक अर्थ की जिज्ञासा करते हुवे बहुत काल तक न जानकर फिर मैंने जाना" इत्यादि ज्ञानों का निश्चय करता है। यदि इस को केवल संस्कारों का फैलाव मात्र ही माना जाय तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रथम तो संस्कार उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं, इस के अतिरिक्त कोई संस्कार ऐसा नहीं है जो तीनों काल के ज्ञान और स्मृति का अनुभव कर सके। विना अनुभव के "मैं और मेरा" यह ज्ञान और स्मृति का प्रतिसन्धान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इस से अनुमान किया जाता है कि एक सब विषयों का ज्ञाता प्रत्येक देह में अपने ज्ञान और स्मृति के प्रबन्ध को फैलाता है, देहान्तर में उस की प्राप्ति न होने से उस के ज्ञान और स्मृति का प्रतिसन्धान हो नहीं सकता" ॥ ५ ॥

यदि कहो कि शरीर को ज्ञानाश्रय होना सिद्ध न हो, न सही, परन्तु आत्मा को ज्ञानाश्रय होना भी तो सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा और ज्ञान में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं? तो उत्तर–

१२३–अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः ॥ ७ ॥

(हेतुः) हेतु (अन्यत्) साध्य से भिन्न (एव) ही होता है (इति) इस से (अनपदेशः) यह हेतु नहीं ॥

यद्यपि सौगतादि मत के लोग मानते हैं कि जिस का जिस से तादात्म्य सम्बन्ध हो, वा जिस की जिस से उत्पत्ति हो वही उस का हेतु होता है, परन्तु हम (वैशेषिकाचार्य) इतनी बात तो मानते हैं कि जिस की जिस से उत्पत्ति हो वह उस का साधक हेतु होता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि हेतु और साध्य में तादात्म्य सम्बन्ध भी हो ही हो। बहुत स्थलों में तादात्म्य सम्बन्ध है, पर हेतुता नहीं, तथा तादात्म्य संबन्ध नहीं और हेतुता है। जो आगे १३ वें सूत्र तक स्पष्ट होगी ॥ ७ ॥

यदि कहो कि साध्य से अन्य ही हेतु हुआ करता है जैसे अग्नि से अन्य धूम अग्नि का हेतु है तो हम कहते हैं कि यदि अन्य ही हेतु हुआ करता हो तो धूम को अग्नि का ही हेतु क्यों मानें, गधे का हेतु भी क्यों न मान लें, क्योंकि गधे से भी धूम " अन्य " तो है ? तो उत्तर-

१२४-अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्याऽनपदेशः ॥ ८ ॥

(अर्थान्तरम्) अन्य अर्थ (अर्थान्तरस्य) अन्य अर्थ का (हि) भी (अनपदेशः) हेतु नहीं हुआ करता ॥

अर्थात् यह भी नियम नहीं कि एक अर्थ दूसरे अर्थ का हेतु हो ही हो, होता भी है, नहीं भी होता ॥ ८ ॥

१२५-संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च ॥९॥

(संयोगि) संयोग वाला, (समवायि) नित्यसम्बन्ध वाला, (एकार्थसमवायि) एकार्थसमवायी (च) और (विरोधि) विरोध रखने वाला [लिङ्ग होता है] ॥९॥ आगे उदाहरण सूत्रकार स्वयं देते हैं। एकार्थसमवायी का उदाहरणः-

१२६-कार्यं कार्यान्तरस्य ॥ १० ॥

(कार्यम्) एक कार्य (कार्यान्तरस्य) अन्य कार्य का [लिङ्ग होता है] ॥

एक कार्य 'रूप' है जो अन्य कार्य 'स्पर्श' का एकार्थसमवायी लिङ्ग है ॥

अर्थात् जिस अर्थ (वस्तु) में ' रूप ' गुण समवायसम्बन्ध से वर्तमान है,

उसी में दूसरा कार्य गुण 'स्पर्श' भी वर्तमान देखा जाता है। इसी प्रकार 'रस' का लिङ्ग 'गन्ध' भी होता है ॥ १० ॥ विरोधी लिङ्ग, जैसेः-

१२७-विरोध्यभूतं भूतस्य ॥ ११ ॥

(अभूतम्) अवर्त्तमान [वर्षा] (भूतस्य) वर्त्तमान वर्षा का (विरोधि) विरोधी [लिङ्ग है]॥

वर्षा का अभाव, हुई वर्षा का विरोधी लिङ्ग है ॥ ११ ॥ इसी प्रकारः-

१२८-भूतमभूतस्य ॥ १२ ॥

(भूतम्) जो है, वह (अभूतस्य) न हुवे का [विरोधी लिङ्ग है]॥ वर्त्तमान वर्षा, न वर्त्तमान वर्षा का लिङ्ग है ॥ १२ ॥ तथा-

१२९-भूतं भूतस्य ॥ १३ ॥

(भूतम्) जो है वह (भूतस्य) हुवे का [विरोधी लिङ्ग है]॥

वर्त्तमान सगबलाता हुआ सर्प, वर्त्तमान झाड़ के नीचे स्थित नकुल का लिङ्ग है। यह भी विरोधी लिङ्ग है॥

शेष संयोगी लिङ्ग का उदाहरण, जैसे-विलक्षण गति वाले रथों को देखकर तत्संयुक्त चतुर सारथियों का अनुमान करना। विद्वान् विद्यार्थियों को देखकर अनुभवी अध्यापकों को पहचानना इत्यादि। समवायी लिङ्ग, जैसे-स्पर्श से वायु का, रूप से तेज का, गन्ध से पृथिवी का पहचानना लिङ्ग है इत्यादि ॥ १३ ॥

इस प्रकार सब प्रकार के लिङ्गों को जान कर लिङ्गी जीवात्मा का देहेन्द्रियसङ्घात से पृथक् होना सिद्ध है। यही बात सांख्यदर्शन अध्याय ३ सूत्र २ और ३ में भी नीचे लिखे अनुसार वर्णित है। यथा-

देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ॥ २ ॥

वह (आत्मा) विचित्र होने से, देहादि से भिन्न (वस्तु) है॥

देह, इन्द्रियां, मन इत्यादिसंघात जड़ है, आत्मा इस से विचित्र चेतन है, इस लिये देहादि का ही नामान्तर आत्मा नहीं है, किन्तु इस से भिन्न आत्मा विचित्र है ॥ २ ॥

षष्ठीव्यपदेशादऽपि ॥ ३ ॥

षष्ठी (विभक्ति) के व्यपदेश से भी (आत्मा देहादि से भिन्न सिद्ध है)॥

संस्कृत की षष्ठी विभक्ति का अर्थ "का, के, की" होता है। उदाहरण-देवदत्त का शिर, यज्ञदत्त के हाथ, विष्णुमित्र की जङ्घा इत्यादि । इस से पाया जाता है कि देवदत्त और शिर एक ही होते तो 'देवदत्त का शिर' यह षष्ठी (का) प्रयोग में न आती । आती है, इस से पाया जाता है कि शिर, हाथ, जङ्घा आदि से देवदत्त यज्ञदत्तादि संज्ञा वाले आत्मा भिन्न हैं । जैसे 'देवदत्त का घोड़ा' कहने से देवदत्त और घोड़ा एक नहीं हो सकते, इसी प्रकार देवदत्त का शिर, हाथ, पांव कहने से देवदत्त ही शिर हाथ पांव नहीं हो सकते । इस से पाया जाता है कि आत्मा ही देहादि संज्ञक नहीं है ॥

१३०-प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य ॥ १८ ॥

(अपदेशस्य) लिङ्ग के (प्रसिद्धिपूर्वकत्वात्) प्रसिद्धिपूर्वक होने से ॥

सूत्र २ में कह आये हैं कि इन्द्रियार्थों की प्रसिद्धि, इन्द्रियार्थों से भिन्नार्थ का हेतु है । क्योंकि लिङ्ग प्रसिद्धिपूर्वक हुआ करता है, इस कारण प्रसिद्धि से जिस की जिस के साथ व्याप्ति ज्ञात हो, उस को उस का लिङ्ग समझना चाहिये । जैसे अग्नि की धूम के साथ व्याप्ति है, इस लिये धूम अग्नि का लिङ्ग है ॥

"व्याप्ति" क्या पदार्थ है, इस के विषय में लगभग एक दूसरे से मिलते जुलते कई प्रकार के मत हैं । कोई तो कहते हैं कि-किसी वस्तु का स्वाभाविक और अव्यभिचारी (अटल) सम्बन्ध जो साध्य और साधन में है, वह व्याप्ति कहाता है । इसी को कोई अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं, इस का भी यही तात्पर्य है कि एक का दूसरे के विना न होना, अर्थात् व्यभिचाररहित्य से नित्य सम्बन्ध । कोई इसी व्याप्ति को साहचर्य नियम कहते हैं । नवीन लोग इसी व्याप्ति पदार्थ को बड़े जटिल शब्दों में कहते हैं कि-

साध्यवत्प्रतियोगिकभेदाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाऽभाव=

व्याप्ति है, अथवा-

हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावा-

ऽप्रतियोगिसाध्यसमानाधिकरणता=

व्याप्ति है। उस व्याप्तिज्ञान को या तो व्यभिचाररहित बहुधा साहचर्य से वा एक बार साहचर्य से, जिस का जिस के साथ ग्रहण हो उस को उस का अनुमान कराने वाला लिङ्ग समझना चाहिये ॥

जैसा कि रसोई घर आदि बहुत स्थानों में साधन धर्म धूमादि को अग्नि आदि से साहचर्य देखते हैं, इस से यह निश्चित ज्ञान होता है कि जहां २ धुवा है, वहां २ अग्नि का अनुमान करना चाहिये। यह तो निश्चित साध्यवाला सपक्ष है। और जहां पर्वतादि में साध्य धर्म विषयक यह संदेह हो कि यहां अग्नि आदि है वा नहीं? यह संदिग्ध साध्यवान् पक्ष है ॥

अनुमान करने के साधन (करण) को " अनुमान " कहते हैं। क्रिया करने के असाधारण क्रियायुक्त साधन को " करण "कहते हैं। जो कारण से उत्पन्न होकर किसी कार्य को उत्पन्न करती है, वह " क्रिया " कहाती है, इसी को " व्यापार " भी कहते हैं। जैसा कि छेदन एक क्रिया वा व्यापार है, उस क्रिया का क्रियायुक्त असाधारण साधन कुठार है, उस कुठार को 'करण' कहेंगे। और छिन्न होने वाले काष्ठ से छेदन उत्पन्न होकर छेदनानन्तर हुवे द्वैधीभाव का उत्पादक होने से छेदन (काष्ठ पर कुठार की आघात) का नाम " क्रिया " हुआ ॥

भाव यह है कि जो छेदन क्रिया में साधन रूप कुठार करण है, उस लिङ्ग का ज्ञान, बिना व्याप्ति ज्ञान के हो नहीं सकता। व्याप्ति ज्ञान प्रसिद्धि से होता है, प्रसिद्धि बहुतायत से अनुभव द्वारा होती है। जब बहुत बार कुठार से आघात करके काष्ठ का छेदन अनुभव में आता है बस तब काष्ठ और कुठार के संयोग से छेदन क्रिया में अनुमान होने लगता है ॥

जैसे अग्नि का धुंवें से अविनाभाव सम्बन्ध=व्याप्ति है। इसी प्रकार रस से भी अविनाभाव सम्बन्ध है। पृथिवी जल तेज इन तीनों में रूप सदा रहता है, और पृथिवी तथा जल में रस सदा रहता है। अर्थात् जहां पृथिवी है वहां गन्ध है, जहां तेज है वहां रूप है, जहां जल है वहां रस है, तथा जहां पृथिवी जल तेज हैं वहां रूप है, यह व्याप्ति पाई जाती है। इस प्रकार गन्ध पृथिवीत्व का व्यापक है, पृथिवीत्व गन्ध का भी व्यापक है, तथा पृथिवीत्व गन्ध का व्याप्य है और गन्ध पृथिवीत्व का भी व्याप्य है, अर्थात् दोनों में परस्पर व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है। इसी को समानव्याप्ति

वा सर्वव्याप्ति कहते हैं। जो वर्ताव सब देशों और सब कालों में पाया जावे, वह 'व्याप्यवृत्ति' कहाता है, तथा जो एक देश या एक काल में वर्त्तता है उस को 'अव्याप्यवृत्ति' कहते हैं॥

जो देश विशेष के कारण से हो उस को 'देशकृताऽव्याप्यवृत्ति' और जो काल विशेष के कारण से हो उस को 'कालकृताऽव्याप्यवृत्ति' कहते हैं। अधिक बात यह है कि अव्याप्यवृत्ति पदार्थ की भी अधिकरणता व्याप्यवृत्ति होती है, अव्याप्यवृत्ति नहीं हुआ करती। जैसे-दण्डी पुरुषः=दण्डवाला पुरुष। इस में यद्यपि पुरुष के एक देश (हाथ) में दण्ड का संयोग है, तथापि समस्त पुरुष को दण्ड की अधिकरणता (आश्रय) कही जाती है, न कि पुरुष के एक देश (हाथ वा अङ्गुलियों) को। इस कारण देशकृत व्याप्यवृत्ति हुई॥

अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति इस प्रकार भी व्याप्ति के दो भेद हैं। साध्य साधन की व्याप्ति अन्वयव्याप्ति और साध्याऽभाव और साधनाऽभाव की व्याप्ति व्यतिरेकव्याप्ति कहाती है। जैसे-जहां धुंवां है वहां अग्नि है। यह अन्वयव्याप्ति हुई, तथा जहां अग्नि नहीं वहां धुंवां नहीं। यह व्यतिरेकव्याप्ति हुई। नवीन नैयायिक गदाधरादि लोग अन्वयव्याप्ति का लक्षण इस प्रकार करते हैं कि-हेतुसमानाधिकरणाऽत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः। हेतु के समानाधिकरणस्थ अत्यन्ताऽभाव को 'हेतुसमानाधिकरणाऽत्यन्ताऽभाव' कहते हैं। जिस का अभाव हो उस को प्रतियोगी और जिस का अभाव न हो (भाव हो) उस को अप्रतियोगी कहते हैं। साध्य के साथ समान (एक) अधिकरण में रहना=साध्यसामानाधिकरण्य कहाता है। अब नवीनों के लक्षण का अर्थ यह हुआ कि "हेतु के साथ समानाधिकरणस्थ अत्यन्ताऽभाव के अप्रतियोगी साध्य के साथ हेतु की समानाधिकरणता=अन्वयव्याप्ति है"। अर्थात् जो साध्य के हेतु के अधिकरणस्थ अत्यन्ताऽभाव का प्रतियोगी नहीं, उस के साथ हेतु की एकाधिकरणता वा समानाधिकरणता होना=हेतु में साध्य की व्याप्ति=अन्वयव्याप्ति कहाती है। जैसे-पर्वत अग्नि वाला है, धूम से, जैसा-रसोई घर। इस अनुमान में पर्वत तो पक्ष है, अग्नि वाला होना साध्य है, धूम हेतु है और रसोईघर दृष्टान्त है। हेतु के अधिकरण पर्वत या रसोई घर आदि में अग्नि=साध्य के वर्त्तमान होने से अग्नि

का अत्यन्ताऽभाव नहीं हो सक्ता, किन्तु घट पटादि का अत्यन्ताऽभाव हो सक्ता है, और उस धूम हेतु के पर्वत अधिकरण में रहने से (जिस में अग्नि भी रहता है) हेतुसमानाधिकरण हुवा। उस अभाव के प्रतियोगी घट पटादि और अप्रतियोगी अग्नि(साध्य,के साथ धूम हेतु की समानाधिकरणता=एक पर्वत अधिकरण में वर्त्तमान होना=ही अग्नि साध्य में, धूम हेतु की व्याप्ति=अन्वयव्याप्ति हुई। इस के विरुद्ध व्याप्ति व्यतिरेकव्याप्ति कहाती है ॥ १४ ॥

१३१—अप्रसिद्धोऽनपदेशः ॥ १५ ॥

(अप्रसिद्धः) जिस में व्याप्ति न पाई जावे, वह (अनपदेशः) अहेतु वा असद्धेतु वा हेत्वाभास भी कहाता है ॥

तो क्या वैशेषिक में एक ही हेत्वाभास है? नहीं, किन्तु-

१३२—असन् संदिग्धश्चाऽनपदेशः ॥ १६ ॥

(असन्) असिद्ध (च) और (संदिग्धः) सन्देहयुक्त (अनपदेशः) हेत्वाभास होता है ॥

हेत्वाभास इस शास्त्र में दो प्रकार के हैं। एक-असत्=असिद्ध=विरुद्ध, दूसरा-संदिग्ध=इसी को अनैकान्तिक कहते हैं ॥ १६ ॥ जैसे-

१३३—यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः ॥ १७ ॥

(यस्मात्) क्योंकि (विषाणी) सींगों वाला है, (तस्मात्) इस कारण (अश्वः) घोड़ा है ॥

यह असिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है। क्योंकि जिस २ के सींग हों वह २ अश्व (घोड़ा) कभी नहीं होता ॥ १७ ॥ और-

१३४—यस्माद्विषाणी तस्माद्गौरित्यनैकान्तिकस्योदाहरणम् ॥ १८ ॥

(यस्मात्) क्योंकि (विषाणी) सींग वाला है (तस्मात्) इस से (गौः) बैल है (इति) यह (अनैकान्तिकस्य) अनैकान्तिक हेतु का (उदाहरणम्) उदाहरण है ॥

केवल बैल के ही सींग नहीं देखे जाते किन्तु भैंसे बकरे आदि के भी देखे जाते हैं, इस लिये सींग वाला होना गौ बैल होने में हेतु तो है परन्तु असाधारण हेतु नहीं, क्योंकि गौ बैल के अतिरिक्त अन्य बकरी आदि में भी अतिव्याप्ति वाला है ॥ १८ ॥

१२५—आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत् ॥ १९ ॥

(आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्) आत्मा इन्द्रिय और अर्थ=विषयों के समीप होने से (यत्) जो (निष्पद्यते) सिद्ध होता है, (तत्) वह (अन्यत्) अन्य है ॥

जीवात्मा नित्य है, उस का गुण ज्ञान भी नित्य है, परन्तु इन्द्रियों और अर्थों के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह जन्य है, नित्य नहीं, इस लिये आत्मा के स्वरूपगत ज्ञान से इन्द्रियद्वाराऽनुभूत ज्ञान पृथक् है। इस सूत्र पर यदि शङ्कराचार्यादि ने उपहास किया है तो वह उन्हीं के (ज्ञोऽत एव। वेदान्तद० २। ३। १८) सूत्रभाष्य का उपहासकारक है । जीवात्मा समस्त श्रुति स्मृति और दर्शन शास्त्रों ने चेतन और अनेक माने हैं । न [illegible] एव । इस विषय में पं० धारेश्वर जी के संग्रह को देखिये जिसे हम यहां उद्धृत करके पाठकों का उपकार होना समझते हैं । यथा—

अणुरेष वै जीवोऽपरिसंख्येयश्च तद्भेदः । तदेतद् गम्यते—" वयं नमो भरन्त एमसि ", " वयं स्याम पतयो रयीणाम् ", " उद्वयं...अगन्म ज्योतिरुत्तमम् ", " अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् ", " यद्भद्रं तन्न आसुव ", " स नः पितेव सूनवे...सचस्वा नः स्वस्तये ", " वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः । अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्धि अस्मान् निधयेव बद्धान् ॥ ", " तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ", " समानी व आकूतिः...यथा वः सुसहासति ", " असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः " इत्यादिपरःसहस्रवेदमन्त्रगतजीवात्मपरकबहुवचनप्रयोगगतिमत्त्ववचनतः । एतेषु खलु जीवानां

बहुत्वं गतिमत्त्वं च स्पष्टमुपदिष्टमनीशत्वं च ध्वनितमत्रै-वेति । अणुत्वं नाम सौक्ष्म्यममहत्त्वं परिच्छिन्नत्वमेकदेश-वृत्तित्वं जीवानां बहुत्वादवगम्यते गतिमत्त्वादपि । ये खलु जीवा बहवोऽपरिसंख्येया गतिमन्तश्च ते कथं न स्युः परिच्छिन्नैकदेशवृत्तयः ? तदिदमणुत्वं बहुत्वं गतिमत्त्वं च जीवग्रामस्य स्मृतमुपनिषत्स्वपि—" एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश । प्राणैश्चित्तं सर्व-मोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥ ", बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः सविज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ", " नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां योविदधाति कामान् । तमा-त्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषा-म् ", " योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणु-मन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ", " नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ", " तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्यामनुष्याः पशवो वयांसि ", तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदोविदुः ", "संप्राप्यैनमृषयोज्ञानतृप्ताः कृतात्मानोवीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति", " ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् । य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति ", " आराग्रमात्रोह्यवरो ऽपि दृष्टः ", " गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता। स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः

सञ्चरति स्व कर्मभिः", "अङ्गुष्ठमात्रोरवितुल्यरूपः सङ्कल्पाऽहङ्कारसमन्वितोयः", "यो वा एतदक्षरं गार्गि अविदित्वा अस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः, अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वा अस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः", "यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः", "अथ य एष संप्रसादः अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते एष आत्मा इति ह उवाच एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म इति", "तद् ये एव एतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येण अनुविन्दन्ति तेषामेव एष ब्रह्मलोकः तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति", "स यदा अस्मात् शरीरादुत्क्रामति सह एव एतैः सर्वैरुत्क्रामति", "स य एवंवित् अस्माल्लोकात्प्रेत्य" "कामरूपी अनुसञ्चरन्", "तस्माल्लोकात्पुनरैति अस्मै लोकाय कर्मणे", "तेन प्रद्योतेन एष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः", "तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते" "सोन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते स सोमलोकं स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते" "स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते"। दर्शनेष्वपि पुरुषबहुत्वं प्रतिपादितमस्ति, यथा "पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः", "नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्" इति सांख्ये; "सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम्", "व्यवस्थातो नाना" इति वैशेषिके; "कृतार्थं प्रति नष्टमपि अनष्टं तदन्यसाधा-

रणत्वात्" इति योगदर्शने; "तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः", "उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्", "नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्", "अंशो नानाव्यपदेशात्", "असंततेश्चाव्यतिकरः" इत्यादिवेदान्तदर्शनसूत्रेषु। प्रशस्तपादभाष्येऽपि च "आत्मत्वाभिसंबन्धादात्मा, तस्य सौक्ष्म्यादप्रत्यक्षत्वे सति करणैः शब्दाद्युपलब्ध्यनुमितैः श्रोत्रादिभिः समधिगमः क्रियते... तस्य गुणा बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माऽधर्मसंस्कारसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः ... व्यवस्थावचनात्संख्यापृथक्त्वमप्यत एव। पृथिव्युदकज्वलनपवनात्ममनसामनेकत्वाऽपरजातिमत्त्वे, बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेष प्रयत्नानां द्वयोरात्ममनसोः संयोगादुपलब्धिः" इति। एवं श्रुतिस्मृतिशास्त्रप्रतिपादितमिदमाऽऽत्मबहुत्वं लोकव्यवहारेऽपि प्रसिद्धम्" ॥

जीव अणु हैं और अनेक तथा असंख्येय हैं। इस विषय में "ममोभरन्त एमसि०" इत्यादि वेदवचन ऊपर संस्कृत में देखिये, जिन से जीवों का अणुत्व परिच्छिन्नत्व और एकदेशीयपना तथा बहुत होना पाया जाता है। जो वस्तु संख्या में अनेक हों वे सर्वव्यापक नहीं हो सकते और जो जीव गमनशील हों अर्थात् एक देह से दूसरे देह में जावें, वे विभु नहीं हो सकते। यह बात "एषोणुरात्मा०" इत्यादि सैंकड़ों उपनिषद् वचनों में भी वर्णित है, जिन में से कुछ एक ऊपर संस्कृत में लिखे हैं। अन्य दर्शनों में भी जीवात्मा का बहुत्व माना गया है जैसा कि सांख्यदर्शन में—" पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः" ६। ४५। और—" नाद्वैतश्रुतिविरोधोजातिपरत्वात्" १। १५४ इन सूत्रों में जीवों का बहुत्व और अद्वैत कहने वाली श्रुतियों का जातिपरक होना मानकर विरोधपरिहार किया गया है। इसी प्रकार योगदर्शन में भी जीवात्मा का अनेक होना और एकदेशीय होना कहा गया है। यथा—"कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्" २। २२ इत्यादि। इसी प्रकार

वेदान्तदर्शन में भी- "तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः ३ । १ । १ और- "उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्" २ । ३ । १९ तथा- "नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्" २ । ३ । २१ और भी- "अंशो नानाव्यपदेशात्" २ । ३ । ४३ तथा च- "असन्ततेश्चाव्यतिकरः" २ । ३ । ४९ इत्यादि सूत्रों में जीवों का भागना दौड़ना जाना आना अणु होना और अणुत्वविरोधाभासप्रतिपादक वाक्यों का दोषपरिहार और नानात्व तथा एकदेशीयत्व और अव्यापकत्व स्पष्ट प्रतिपादन किया है ॥

प्रशस्तपाद भाष्य में भी जो ऊपर संस्कृत में उद्धृत है, जीव का संख्यायुक्त होना, अलग २ होना, संयोग और विभाग करना कहा गया है। इस प्रकार वेद, उपनिषद्, सांख्य योग वेदान्त इत्यादि दर्शन, प्रशस्तपाद भाष्य और अनेक उपनिषद् जीवों को बहुत्व मानते हैं। इस पर कई लोग शङ्का करेंगे कि आप ने जीवों के बहुत्वप्रतिपादक वचन तो इकट्ठे कर दिये परन्तु सैंकड़ों वचन जो वेद, उपनिषद् और शास्त्रों में आत्मा के एकत्व को प्रतिपादन करते हैं उन की क्या गति होगी? यथा- यस्तु सर्वाणि० यस्मिन् सर्वाणि० सोऽसावादित्ये पुरुषः० ईशोपनिषद् और- यदेवेह तदमुत्र० मनसैवेदमाप्तव्यम्० कठोपनिषद् इत्यादि अनेक उपनिषदों, वेदों और दर्शनसूत्रों में कहे गये हैं? उत्तर- प्रत्येक वचन के यहां संग्रह करने और दोषपरिहार करने में तो ग्रन्थ बहुत बढ़ जायेगा किन्तु यदि वाचकवृन्द विचार करेंगे तो सर्वत्र ही नीचे लिखे कारणों से संगति मिल जायगी और दोषपरिहार हो जायगा ॥

१- कहीं २ अपने समान सुख दुःख का अनुभव जानकर किसी पर भी अन्याय न करने के लिये आत्मा आत्मा की एकता कहते हुवे एकत्व का भ्रम होता है। कहीं २ जीवात्मा को परमात्मा से अनन्य भक्ति के समय तन्मयता का वर्णन करने को वचन हैं, जिन में जीव ब्रह्म की एकता भ्रान्ति से प्रतीत होती है। कहीं २ परमात्मा का एकत्व प्रतिपादित है जिसको भ्रमसे कोई लोग जीवों का एकत्व समझ लेते हैं परन्तु वास्तव में भेदप्रतिपादक वाक्य स्पष्ट और यथार्थ हैं और समस्त व्यवहार उन्हीं से चलता है, इस के विरुद्ध एकत्वप्रतिपादक वाक्य लक्षणा से व्याख्या करने योग्य हैं ॥ १९ ॥

१३८- प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम् ॥ २० ॥

(प्रवृत्तिनिवृत्ती च) प्रवृत्ति और निवृत्ति (प्रत्यगात्मनि) अपने अपने आत्मा में (दृष्टे) देखी जाती हैं (परत्र) पराये में (लिङ्गम्) वही लिङ्ग हैं ॥

जिस प्रकार रागोत्पन्न प्रयत्न=प्रवृत्ति और द्वेषोत्पन्न प्रयत्न=निवृत्ति अपने आत्मा में देखी जाती हैं इसी प्रकार हितकारक कामों में प्रवृत्ति और अहित कामों में निवृत्ति देखकर दूसरों के आत्मा का लिङ्ग से अनुमान करना चाहिये कि मेरे समान इन की भी प्रवृत्ति निवृत्ति आदि चेष्टायें हैं इसलिये अवश्य मेरे समान इन में भी एक पृथक् २ आत्मा है ॥ २० ॥

इस प्रकार आत्मा की सिद्धि के प्रकरण से आत्मा के लिङ्ग और अनात्मा के लिङ्ग तथा अपने आत्मा के समान पराये आत्माओं का होना इस आन्हिक में वर्णन किया गया ॥

इति तृतीयाध्याये प्रथममान्हिकम्

अथ द्वितीयमान्हिकम्

आत्मा की पहचान में जिस प्रकार प्रथमान्हिक में इन्द्रियार्थप्रसिद्धि को लिङ्ग कहा गया, इसी प्रकार इस द्वितीय आन्हिक में मन की गति को आत्मा का लिङ्ग बतावेंगे, इस लिये प्रथम मन की परीक्षा आरम्भ करते हैं और उद्देश के क्रम को छोड़कर भी आवश्यकतावश मन की परीक्षा करते हैं:-

१३७-आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् ॥ १ ॥

(आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे) आत्मा, इन्द्रियों और विषयों के सामीप्य में भी (ज्ञानस्य) ज्ञान का (भावः) होना (च) और (अभावः) न होना (मनसः) मन का (लिङ्गम्) लिङ्ग है ॥

देखा जाता है कि इन्द्रियों के समीप विषय हों तब भी उन का ज्ञान नहीं होता और होता भी है अर्थात् हमारी आंख के सामने से हाथी निकल जाता है और हमें ज्ञान नहीं होता । हमारे कानों को सुनाने के लिये कोई पुकार जाता है और हम नहीं सुनते, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषयों को भी हम ग्रहण नहीं करते, जब तक कि इन्द्रियों के अतिरिक्त मन भी उस विषय में न लगे । यों तो एक ही काल में हमारी त्वचा स्पर्श करती रहती है, नासिका के सामने गन्ध उपस्थित रहता है, आंखों के आगे कोई न कोई रूप रहता है परन्तु क्या हम पाञ्चों इन्द्रियों से पाञ्चों विषयों का ग्रहण एक

साथ कर सकते हैं ? कभी नहीं, किन्तु जिस विषय में इन्द्रिय और मन दोनों लगें, उसी विषय का ग्रहण होता है और जिस विषय में इन्द्रिय लगे, परन्तु मन न लगे, उस का ग्रहण नहीं होता । इस लिये मन का होना सिद्ध है जो एक साथ अनेक विषयों का ग्रहण नहीं होने देता । ऐसा ही न्यायदर्शन में लिखा है कि:-

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् १ । १ । १६ ॥

अर्थात् एक साथ अनेक ज्ञानों का उत्पन्न न होना मन का लिङ्ग है । इस प्रकार न्याय और वैशेषिक का मत समान है ॥ १ ॥

यदि कहो कि मन सिद्ध हुवा परन्तु मन का द्रव्य होना और नित्य होना कैसे सिद्ध होंगे ? तो उत्तर-

१३८-तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ २ ॥

(तस्य) उस मन के (द्रव्यत्वनित्यत्वे) द्रव्यपना और नित्यपना (वायुना) वायु से (व्याख्याते) व्याख्यान किये ॥

जिस प्रकार वायु द्रव्य और नित्य है उसी प्रकार मन भी द्रव्य और नित्य है । द्रव्य के लक्षण में कह चुके हैं कि जो क्रियावाला और गुणवाला तथा समवायी कारण हो उस को द्रव्य कहते हैं, जैसे वायु गति क्रिया वाला है वैसे मन भी गति क्रिया वाला है, जैसे वायु स्पर्श गुण वाला है वैसे मन भी बोध गुण वाला है और जैसे वायु अपने कार्यों का समवायी कारण है वैसे मन भी अपने कार्यों का समवायी कारण है और जैसे वायु मोक्ष पर्यन्त स्थायी है वैसे मन भी मोक्ष पर्यन्त ठहरने वाला है । इस लिये वायु के द्रव्यत्व और नित्यत्व के समान मन का भी द्रव्यत्व और नित्यत्व कहा गया समझना चाहिये ॥ २ ॥

क्यों जी ? यह मन प्रत्येक शरीर में अनेक हैं वा एक ? उत्तरः-

१३९-प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ॥ ३ ॥

(प्रयत्नायौगपद्यात्) प्रयत्न के एक साथ न होने से (च) और (ज्ञानायौगपद्यात्) ज्ञान के एक साथ न होने से (एकम्) एक है ॥

यदि मन अनेक होते तो एक साथ अनेक प्रयत्न हो सकते क्योंकि एक मन से एक प्रयत्न और दूसरे मन से दूसरा प्रयत्न हो सकता । इसी प्रकार एक

मन से एक ज्ञान और दूसरे मन से दूसरा ज्ञान हो सकता, और होता है नहीं, इस लिये मन एक है ॥ ३ ॥

उद्देश क्रम को छोड़ कर आवश्यकता से मन की परीक्षा कही गई अब फिर उद्देश क्रमानुसार आत्मा की परीक्षा करते हुये उस के साधक लिङ्गों का वर्णन करते हैं:-

१४०-प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ ४ ॥

(प्राणापा-विकाराः) प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति और इन्द्रियान्तरविकार, तथा (सुखदुः-प्रयत्नाः) सुख, दुख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न (आत्मनः) आत्मा के (लिङ्गानि) लिङ्ग हैं ॥

मुख और नासिका से बाहर निकलने वाला, ऊपर को चलने वाला, शरीरस्थ वायु प्राण कहाता है; मूत्र और विष्ठा को नीचे निकालने वाला शरीरस्थ वायु अपान कहाता है; आंख की पलकों को मिलाना निमेष कहाता है, और आंख की पलकों को पृथक् करना उन्मेष कहाता है; शरीर की वृद्धि और घाव का भर आना आदिक जीवन कहाता है; अपने चाहे विषयों के ग्राहक इन्द्रियों से सम्बन्ध जोड़ने को उस २ विषय पर मन का लेजाना मनोगति कहाता है; एक इन्द्रिय से ग्रहण किये हुये विषय का दूसरे इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होजाना-जैसे आंख से खटाई को देखकर जीभ में पानी भर आना इन्द्रियान्तरविकार कहाता है; किसी विषय का अनुकूल प्रतीत होना सुख कहाता है; किसी विषय का प्रतिकूल प्रतीत होना दुःख कहाता है; अपने लिये वा पराये लिये अप्राप्त वस्तु की प्रार्थना करना इच्छा कहाता है और जिस से अपने आत्मा में जलन सी प्रतीत हो उस अप्रियता के ज्ञान से उत्पन्न हुवा गुण द्वेष कहाता है; और कुछ करना प्रयत्न कहाता है । यह सब आत्मा के होने में लिङ्ग हैं अर्थात् जहां आत्मा होता है वहीं प्राणादि प्रयत्न पर्यन्त लिङ्ग पाये जाते हैं और जब आत्मा देह से निकल जाता है तब यह लिङ्ग नहीं पाये जाते । इस लिये यह आत्मा के लिङ्ग हैं । शरीर में प्राण और अपान दोनों रहते हैं जिन में से एक नीचे और दूसरा ऊपर जाने वाला है, इन दोनों परस्परविरोधियों को प्रयत्न से अपने अधिकार में रखना अर्थात् जब चाहे तब अपान को नीचे निकाले और

जब चाहे तब प्राण को ऊपर फेंके। यह सब चेष्टा विना शरीराधिष्ठाता आत्मा के नहीं हो सकीं। इस लिये प्राण और अपान आत्मा के लिङ्ग हैं। इसी प्रकार आंख मीचना और खोलना एक दूसरे के विरोधी दो कर्म विना किसी स्वतन्त्र प्रयत्न करने वाले के हो नहीं सक्ते, इस लिये निमेष और उन्मेष भी आत्मा के लिङ्ग हैं। तथा प्रतिक्षण शरीर का बढ़ना और चोट लगने पर घाव का फिर से भरना भी, जो जीवन है, विना किसी अधिष्ठाता आत्मा के हो नहीं सक्ता, इस लिये जीवन आत्मा का लिङ्ग है। इसी प्रकार भिन्न २ विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों को मन की सहायता से किसी एक विषय में लगाना और दूसरे विषय से हटाना भी आत्मा के विना नहीं हो सक्ता, इस लिये मनोगति आत्मा का लिङ्ग है और नारङ्गी को आंख से देख कर उस के स्वाद को याद करना और फिर दूसरी इन्द्रिय रसना से विकार उत्पन्न करना आत्मा के विना कैसे हो सकता है, इस लिये इन्द्रियान्तर विकार आत्मा का लिङ्ग है। जो गुण है वह किसी द्रव्य के आश्रय रहता है जैसा कि रूप तेज के आश्रय रहता है। इसी प्रकार सुख दुःख इच्छा द्वेष और प्रयत्न भी गुण हैं जो किसी द्रव्य के आश्रय रहने चाहियें और वह द्रव्य आत्मा ही हो सकता है, इस लिये सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न भी आत्मा के लिङ्ग हैं ॥ ४ ॥

क्यों जी! प्राणापानादि लिङ्गों से आत्मा तो सिद्ध हुवा, परन्तु आत्मा का द्रव्यत्व और नित्यत्व कैसे सिद्ध हो? उत्तर-

१४१-तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ५ ॥

(तस्य) उस आत्मा के (द्रव्यत्वनित्यत्वे) द्रव्यत्व और नित्यत्व (वायुना) वायु से (व्याख्याते) कहे गये ॥

वायु के द्रव्यत्व और नित्यत्व के समान हेतु से आत्मा का भी द्रव्यत्व और नित्यत्व कहा गया समझना चाहिये अर्थात् जैसे वायु नित्य और द्रव्य है, वैसे ही आत्मा भी नित्य और द्रव्य है। इतना विशेष समझना चाहिये कि वायु के समान आत्मा व्यावहारिक नित्य नहीं किन्तु वास्तविक नित्य है और वायु व्यावहारिक नित्य है क्योंकि वायु सृष्टि के आरम्भ से प्रलय की अवधिपर्यन्त नित्य है, परन्तु आत्मा प्रलय में भी नष्ट नहीं होता, इस लिये वास्तविक नित्य है, यहां उस को वायु के समान नित्य कहना केवल नित्य शब्द की समानता को लेकर है ॥ ५ ॥

प्रश्न—ज्ञानादि गुण तो अदृष्ट हैं ? किसी दृष्ट लिङ्ग से आत्मा सिद्ध कीजिये ? उत्तर—सुनिये:—

१४२—यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ॥ ६ ॥

(सन्निकर्षे) समीप होने पर भी (यज्ञदत्तः इति) यज्ञदत्त है, ऐसा (प्रत्यक्षाभावात्) प्रत्यक्ष न होने से (दृष्टम्) दृष्ट (लिङ्गम्) लिङ्ग (न) नहीं (विद्यते) होता है ॥

भाव यह है कि संसार में सामने खड़े हुवे देवदत्त यज्ञदत्तादि को देख कर भी केवल शरीर का प्रत्यक्ष होता है, न कि इस बात का कि यह देवदत्त है वा यज्ञदत्त है। तब फिर आत्मा के सिद्ध करने में यदि दृष्ट लिङ्ग न हो तो क्या हानि वा आश्चर्य है ? ॥ ३ ॥

तब फिर आत्मा कैसा है ? उस को कैसे जानें ? सुनियेः—

१४३—सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥ ७ ॥

(सामान्यतोदृष्टात्) सामान्यतोदृष्ट से (च) और [ज्ञानादि गुणों से] (अविशेषः) विशेष नहीं कह सकते ॥

अर्थात् जो ज्ञानादि गुण चतुर्थ सूत्र में कहे गये हैं उन्हीं से समझलो कि इन गुणों का आश्रय कोई द्रव्य है, विशेष कुछ नहीं कह सकते ॥ ७ ॥

तो फिर उस का नाम आत्मा है, यह कैसे जानें ? उत्तरः—

१४४—तस्मादागमिकः ॥ ८ ॥

(तस्मात्) इस कारण (आगमिकः) शास्त्रसिद्ध है ॥

अर्थात् जब सामान्यतोदृष्ट ज्ञानादि गुणों का आश्रय द्रव्य विशेष कोई न कोई है और वह क्या है अर्थात् उसका नाम क्या है यह बात शास्त्र में देखकर इतनी ही निश्चित होती है कि उस का नाम आत्मा है। जैसा कि "आत्मैवाभूद्विजानतः" यजुः ४०।७। "आत्मानं चेद्विजानीयात्" बृहदारण्यक ४।४।१२ इत्यादि शास्त्र में उस का नाम आत्मा पाया जाता है ॥ ८ ॥

प्रश्न—पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में से ही किसी को आत्मा क्यों न मान लिया जाय ? उत्तर—

१४५—अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥ ९ ॥

(अहमिति शब्दस्य) " अहम्=मैं " इस शब्द के (व्यतिरेकात्) भिन्न होने से (आगमिकम्) शास्त्रानुकूल (न) नहीं होगा ॥

अर्थात् मैं और मेरा का व्यवहार पृथिवी आदि अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता इस कारण पृथिवी आदि अन्य आठ द्रव्यों में से किसी को आत्मा मानना शास्त्रानुकूल नहीं ॥ ९ ॥

प्रश्न-हम तो प्रत्यक्षात्मवादी हैं, तब-

१४६-यदि दृष्टमन्वक्षमऽहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति ॥ १० ॥

(यदि) यदि (अन्वक्षम्) आंखों सामने (दृष्टं) देखे हुवे को (अहम् देवदत्तः) मैं देवदत्त हूं (अहम् यज्ञदत्तः) मैं यज्ञदत्त हूं (इति) इस प्रकार [आत्मा मानलेवें तो क्या हानि है ?] ॥ १० ॥ उत्तरः-

१४७-दृष्ट आत्मनि लिङ्गे एकएव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः ॥ ११ ॥

(आत्मनि) [षष्ठयर्थे सप्तमी] आत्मा के (लिङ्गे) लिङ्ग के (दृष्टे) दृष्ट होने पर तो (दृढत्वात्) दृढ़ होने से (एकः) एक (एव) ही (प्रत्ययः) प्रतीति होती (प्रत्यक्षवत्) जैसा कि प्रत्यक्ष में होती है ॥

यदि मैं देवदत्त हूं, मैं यज्ञदत्त हूं, ऐसा कहने वाले देवदत्त वा यज्ञदत्त को ही आत्मा मानलें तब तो शरीरसमुदाय में ही दृढ़ प्रतीति होजावेगी कि यही आत्मा है तब फिर ज्ञानादि गुणों की और उन के आश्रय द्रव्य आत्मा की जिज्ञासा ही व्यर्थ है परन्तु शरीर को देख कर भी आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता जैसा कि इसी शास्त्र में आगे अध्याय ८ आन्हिक १ सूत्र २ में कहेंगे कि " तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे " आत्मा और मन प्रत्यक्ष नहीं। तब देवदत्त और यज्ञदत्त संज्ञा वाले देहादि संघात को प्रत्यक्ष आत्मा कैसे मान लिया जावे ? ॥ ११ ॥

यदि कहो कि हम तो ज्ञानादि लिङ्गों से लिङ्गी आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं कहते किन्तु हम तो यह कहते हैं कि मैं देवदत्त हूं, मैं यज्ञदत्त हूं, ऐसा जो मन में निश्चय होता है, इस मानसिक प्रत्ययगोचर होने से आत्मा को प्रत्यक्ष कहते हैं ? तो उत्तर-

१४८—देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छती-
त्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः ॥ १२ ॥

(देवदत्तो गच्छति) देवदत्त जाता है (यज्ञदत्तो गच्छति) यज्ञदत्त जाता है (इति) ऐसी (उपचारात्) बोलचाल होने से (शरीरे) देह में (प्रत्ययः) निश्चय होता है ॥

देवदत्त और यज्ञदत्त को जाता हुवा देख कर जब कहते हैं कि देवदत्त वा यज्ञदत्त जाता है, तब तो शरीर में ही गति क्रिया देखकर यही निश्चय होगा कि जाने वाला शरीर ही देवदत्त वा यज्ञदत्त है, न कि ज्ञानादि गुणों वाला कोई पदार्थ आत्मा है। परन्तु बिना ज्ञानादि गुणों के भित्ति के समान देवदत्त वा यज्ञदत्त के शरीर को कोई आत्मा नहीं मान सक्ता ॥१२॥ शङ्का—

१४९—संदिग्धस्तूपचारः ॥ १३ ॥

(उपचारः) बोलचाल (तु) तो (संदिग्धः) संदेहयुक्त है ॥

अर्थात् देवदत्त जाता है, यज्ञदत्त जाता है, इस उपचार=बोलचाल से यह पूरा निश्चय नहीं होता कि बोलने वाला देवदत्त वा यज्ञदत्त के शरीर को जाता समझता है अथवा ज्ञानादि गुणों वाले आत्मा को जाता समझता है ॥१३॥

तथा च—यदि हमारा कहा उपचार संदिग्ध है तब मैं देवदत्त हूं, मैं यज्ञदत्त हूं, इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीति शरीर में नहीं तो किस में है ? उत्तर—

१५०—अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात्परत्रा-
ऽभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः ॥ १४ ॥

(अहम् इति) मैं हूं, ऐसा व्यवहार (प्रत्यगात्मनि) छिपे हुवे आत्मा में (भावात्) होने से और (परत्र) शरीर में (अभावात्) न होने से (अर्थान्तरप्रत्यक्षः) अन्य अर्थ का प्रत्यक्ष है ॥

अर्थात् जब 'मैं हूं' इत्यादि प्रत्यक्ष अदृष्ट आत्मा में होता है और शरीर में नहीं होता तब मैं देवदत्त हूं, मैं यज्ञदत्त हूं, ऐसा जो प्रत्यक्ष होता है उस को अर्थान्तर (आत्मा) का ही प्रत्यक्ष कह सकते हैं ॥ १४ ॥

आगे पूर्वपक्षी अपने पक्ष का समाधान करता है कि:—

१५१-देवदत्तो गच्छतीत्युपचारादभिमा-
नात्तावच्छरीरप्रत्यक्षोऽहङ्कारः ॥१५॥

(देवदत्तः) देवदत्त (गच्छति) जाता है (इति) ऐसी (उपचारात्) बोलचाल से (अभिमानात्) और अभिमान से (तावत्) प्रथम तो (अहङ्कारः) "मैं" ऐसा कथन (शरीरप्रत्यक्षः) शरीरविषयक प्रत्यक्ष है ॥

अर्थात् देवदत्त जाता है, यज्ञदत्त आता है, विष्णुमित्र चलता है, चैत्र पढ़ता है, मैत्र पढ़ाता है, इत्यादिक बोलचाल से, और मैं गोरा हूं, तू काला है, वह मोटा है, मैं पतला हूं, इत्यादिक अभिमान से अहङ्कार का प्रत्यक्ष शरीरविषयक ही ज्ञान पड़ता है, इस लिये हमारे पक्ष में संदिग्ध नहीं किन्तु शरीरविषयक उपचार निश्चित है ॥१५॥ फिर शङ्का करते हैं कि-

१५२-संदिग्धस्तूपचारः ॥ १६ ॥

(उपचारः) बोलचाल या लक्षणा या उपचार (तु) तो (संदिग्धः) सन्देह युक्त ही रहा ॥

अर्थात् देवदत्त जाता है, यज्ञदत्त आता है, इत्यादि प्रत्यक्ष में यह सन्देह तो ज्यों का त्यों ही रहा कि वक्ता को शरीर का जाना आना विवक्षित है अथवा आत्मा का वा दोनों का ? ॥ १६ ॥

आगे उक्त शङ्का का परिहार करते हैं कि-

१५३-न तु, शरीरविशेषाद्यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं
विषयः ॥ १७ ॥

(शरीरविशेषाद्) शरीर के विशेष से (यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोः) यज्ञदत्त और विष्णुमित्र का पृथक् २ (ज्ञानम्) ज्ञान (विषयः) वक्ता का विषय है (न तु) तब सन्देह नहीं रहता ॥

जब यज्ञदत्त को आता और विष्णुमित्र को जाता देखते हैं, तब यज्ञदत्त से विष्णुमित्र का पृथक् जो ज्ञान होता है वह तो शरीरविशेष से ही होता है, आत्मा तो दोनों का एक सा होगा, शरीर ही भिन्न २ प्रकार के देखकर एक का दूसरे से विशेष ज्ञान होता है तब आत्मा जाता है वा आता है, यह तो सन्देह नहीं हो सकता किन्तु शरीरविषयक ही अहङ्कार का निश्चय होजाता है, फिर उपचार (बोलचाल) सन्देहयुक्त कहां रहा ? ॥ १७ ॥

जब कि शरीर का ही प्रत्यक्ष अभिमान और अहङ्कार है, आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं, तब सामान्यतोदृष्ट से विशेष सिद्ध न होने पर आत्मा केवल शास्त्रसिद्ध है, और उस के अनुमान से सिद्ध करने का परिश्रम वृथा है ? तो उत्तरः–

१५४–अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाऽव्यभिचाराद्विशेषसिद्धेर्नागमिकः ॥ १८ ॥

(अहमिति) 'मैं' ऐसे (मुख्ययोग्याभ्याम्) उपचाररहित और योग्य प्रत्ययों से (शब्दवत्) शब्द के समान (व्यतिरेकाऽव्यभिचारात्) पृथक्ता के अव्यभिचार से (विशेषसिद्धेः) विशेष सिद्ध होने से (आगमिकः) केवल शास्त्रसिद्ध (न) नहीं है ॥

अर्थात् आत्मा केवल शास्त्रसिद्ध ही नहीं है किन्तु अनुमानसिद्ध भी है क्योंकि 'मैं हूं' ऐसी प्रतीति न तो औपचारिक है किन्तु उपचाररहित है और योग्य भी है क्योंकि केवल शरीर को कोई 'मैं' नहीं कहता, प्रत्युत 'मेरा शरीर' कहता है, तब आत्मा शरीर से नित्य भिन्न हुवा अर्थात् शरीर कभी भी आत्मा नहीं हुवा, तब जैसे शब्द गुण, पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में से किसी द्रव्य का गुण न होने से किन्तु आठों से व्यतिरिक्त आकाश का गुण होने से भिन्न है । ऐसे ही आत्मा भी पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से व्यतिरिक्त विशेष सिद्ध होने से केवल शास्त्रसिद्ध ही नहीं, किन्तु अनुमानसिद्ध भी है । इस प्रकार आत्मा–शास्त्र और अनुमान दोनों से सिद्ध है ॥१८॥

आत्मा की परीक्षा हो चुकी । अब आत्मा के नाना अर्थात् अनेक होने की परीक्षा करेंगे, इस लिये पहले पूर्व पक्ष करते हैं:–

१५५–सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम् ॥ १९ ॥

(सुखदुःख–ऽविशेषात्) सुख दुःख और ज्ञान की सिद्धि में विशेष न होने से (ऐकात्म्यम्) आत्मा एक ही जान पड़ता है ॥

जैसा सुख दुःख और ज्ञान एक शरीर में है, वैसा ही सब शरीरों में है, कुछ विशेष नहीं । इस कारण देवदत्त, यज्ञदत्त, विष्णुमित्र, चैत्र, मैत्र इत्यादि के अनेक शरीरों में एक ही आत्मा प्रतीत होता है क्योंकि जैसे शब्दलिङ्ग की विशेषता न होने से आकाश एक है और जैसे शीघ्र विलम्ब एकसाथ इत्यादि सामान्य से काल एक है और जैसे पूर्व, पश्चिम आदि प्रत्ययलिङ्ग के अविशेष

से दिशा एक है, ऐसे ही सुख, दुःख, ज्ञानादि लिङ्गों के अविशेष (सामान्य) से आत्मा भी अनेक शरीरों में एक ही है ॥ १९ ॥

आगे सिद्धान्त सूत्र से उत्तर देते हैं:-

१५६—व्यवस्थातोनाना ॥ २० ॥

(व्यवस्थातः) व्यवस्था के भेद से (नाना) आत्मा अनेक हैं ॥

अर्थात् सुख दुःख ज्ञानादि लिङ्ग यद्यपि सब शरीरों में पाये जाते हैं तथापि एक काल में एक ही प्रकार का सुख वा दुःख वा ज्ञान सब के शरीरों में नहीं पाया जाता। जिस समय में देवदत्त सुख का अनुभव करता है उसी समय में यज्ञदत्त दुःख का अनुभव करता है, और विष्णुमित्र दोनों के सुख और दुःख को जानता है, इस लिये सुख दुःख और ज्ञान सब में समान होने पर भी एक काल में एक को सुख होने से सब को सुख नहीं होता और एक को दुःख होने से सब को दुःख भी नहीं होता तथा एक को ज्ञान होने से सब को ज्ञान भी नहीं होता, यदि होता तो एक पाठशाला के अनेक विद्यार्थियों में से एक के पढ़कर ज्ञानी होने से सब विद्यार्थी ज्ञानी होजाते, परन्तु ऐसा नहीं होता। इस लिये सुख दुःख और ज्ञान की व्यवस्था होने से सब शरीरों में एक आत्मा नहीं है किन्तु अनेक हैं ॥ २० ॥

अब दूसरा हेतु देते हैं—यदि कोई कहे कि केवल युक्ति से आत्मा का अनेक होना सिद्ध किया, शास्त्र से नहीं, तो उत्तरः—

१५७—शास्त्रसामर्थ्याच्च ॥ २१ ॥

(शास्त्रसामर्थ्यात्) शास्त्र के सामर्थ्य से (च) भी ॥

शास्त्र के सामर्थ्य से भी आत्मा अनेक सिद्ध होते हैं। जैसा कि यजुर्वेद अध्याय १९ मन्त्र ४६ में "जीवा जीवेषु मामकाः" और कठोपनिषद् वल्ली ५ कण्डिका १३ में "नित्योनित्यानाम्, चेतनश्चेतनानाम्, ऐको बहूनाम्" इत्यादि वेद और उपनिषदादि शास्त्रों के सहस्रों प्रमाणों से जीवात्मा का अनेक होना पाया जाता है। वेदादि शास्त्रों के बहुत से प्रमाण इसी वैशेषिकदर्शन भाषानुवाद अध्याय ३ आन्हिक १ सूत्र १९ के भाष्य में पृष्ठ ६३ से ६६ तक जीवों के अनेकत्व, अणुत्व और भिन्न भिन्नत्व में हम लिख आये हैं, वहां देख लीजिये ॥ २१ ॥

तृतीयाध्याय के इस द्वितीय आन्हिक में मन की परीक्षा करके शेष आत्मपरीक्षा भी पूर्ण रीति से की गई ॥

इति श्री तुलसीराम स्वामि कृते
वैशेषिकदर्शन भाषानुवादे
तृतीयाऽध्यायस्य
द्वितीयमान्हिकम् ॥ २ ॥



इति तृतीयोध्यायः ॥ ३ ॥





ओ३म्

अथ चतुर्थोऽध्यायः

तत्र

प्रथममाह्निकम्

पृथिवी आदि ९ द्रव्यों की चतुर्थ सूत्रोक्त उद्देशक्रमानुसार उद्देश लक्षण और परीक्षायें गत तीन अध्यायों में कर चुके। अब जीवात्मा और परमात्मा=आत्मा द्रव्य को छोड़कर शेष पृथिवी आदि आठ द्रव्यों के मूल कारण प्रकृति की परीक्षा करना चाहते हुवे आचार्य कणाद मुनि चतुर्थाध्याय का आरम्भ करते हुवे मूल कारण प्रकृति का स्वरूप वर्णन करते हैं:-

१५८-सदऽकारणवन्नित्यम् ॥ १ ॥

(सत्) जो हो (अकारणवत्) जिस का अन्य कारण न हो (नित्यम्) वह नित्य है ॥

जो पदार्थ सत्स्वरूप है, जिस का अन्य कोई कारण भी नहीं, वह नित्य पदार्थ एक मूल प्रकृति है ॥ १ ॥ और-

१५९-तस्य कार्यं लिङ्गम् ॥ २ ॥

(तस्य) उस का (लिङ्गम्) लिङ्ग (कार्यम्) कार्य है ॥

अर्थात् उस प्रथम सूत्रोक्त कारणरहित सत्स्वरूप प्रकृति का लिङ्ग उस के अनेक कार्य हैं जो पृथिवी आदि कार्यस्वरूप से प्रत्यक्ष हैं ॥ २ ॥

क्यों जी ! कार्य को कारण का लिङ्ग क्यों माना जावे ? उत्तरः-

१६०-कारणभावात् कार्यभावः ॥ ३ ॥

(कारणभावात्) कारण के भाव से (कार्यभावः) कार्य का भी भाव होता है ॥

अर्थात् कारण हो तब उस से कोई कार्य उत्पन्न होता है, न हो तो नहीं। इस लिये कार्य को देखकर अनुमान से कारण की सिद्धि होती है तब कार्य को कारण का लिङ्ग (अनुमापक) क्यों न माना जावे ॥

यह निश्चित नियम है कि जिस के होने से जो हो और न होने से न हो, वह उस का लिङ्ग (अनुमान कराने वाला) होता है। अर्थात् कार्य

का भाव विना कारणभाव के नहीं होता, यह अटूट नियम है। संसार में हम स्थूल पदार्थों को देखते हैं और फिर उन स्थूलों की बनावट में सूक्ष्म अवयवों के जोड़ देखते हैं और फिर उन सूक्ष्मों में भी सूक्ष्मतर अवयवों के जोड़ देखते हैं तथा फिर सूक्ष्मतर पदार्थों में भी अन्य सूक्ष्मतम अवयवों का जोड़ देखते हैं, इस प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म, जिस से परे अन्य सूक्ष्म न हो उस पदार्थ का नाम परमाणु है और वे परमाणु ऐसे अनन्त हैं कि मनुष्य उन को किसी प्रकार गिन नहीं सकता इस लिये वे किसी प्रकार संख्या में नहीं आसकते। यद्यपि वे परमाणु अनन्त हैं तथापि उन को सांख्य योग और वेदान्त में सत्व रजस् तमस् भेद से तीन प्रकार का गुण बताया गया है और न्याय, वैशेषिक और मीमांसा में परमाणु नाम से पुकारा गया है, इन्हीं परमाणुओं को श्वेताश्वतर शाखा वाले श्वेत, रक्त और कृष्ण नाम से पुकारते हैं, इन्हीं को कहीं प्रकाश, क्रिया और आवरण शक्ति बताया गया है। इन्हीं परमाणुओं की कोई दिव्य शक्ति है जिस को प्रमाणकुशल लोग भी पहुंच नहीं सकते, जिस का योगी भी लक्षण नहीं कर सकते और मुमुक्षु भी जिस का उल्लङ्घन नहीं कर सकते, वैज्ञानिक जिस का लक्षण नहीं कर सकते वह अप्रज्ञात, अलक्षण, अतर्क्य, अविज्ञेय, अव्यक्त कोई पदार्थ है जो इन सत्वादि गुणों की वा परमाणुओं की साम्यावस्था है, उसी का नाम प्रकृति है। अनेक ग्रन्थों में देवी, शक्ति, पराशक्ति, माया, महामाया, प्रकृति, अव्यक्त, अव्याकृत, प्रधान इत्यादि इसी के अनेक नाम हैं। इसी मूल प्रकृति में ब्राह्म मान से सौ वर्ष के अन्त में प्रलय अवस्था में सम्पूर्ण जगत् सोया हुवा सा अन्धकार से छिपा हुवा सा लीन हुवा रहता है, उस समय में इस प्रकृति का नाम 'स्वधा' होता है। जैसा कि वेद में लिखा है:-

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास॥

ऋ० १० । १२९ । २

अर्थात् (प्रलय काल में) न मृत्यु था, न जीवन था, न रात्रि और दिन का चिह्न था (किन्तु) स्वधा=प्रकृति के सहित वह एक (ब्रह्म) चेतन था जो निष्कम्प था और उस से परे कुछ न था॥ २॥

इस में स्वधा का अर्थ यह है कि अपने धारण किये हुवे जीवग्रामसहित ॥ तथा इस से अगले मन्त्र ये हैं कि:-

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

अर्थ-(अग्रे तमः आसीत्) प्रलयकाल में अन्धियारा रहता है और (इदं सर्वमप्रकेतं सलिलम् आ तमसा गूढम्) यह सब चिह्नरहित अदृश्य जल सा अन्धियारे से आच्छादित रहता है। जैसे जल वाष्परूप होकर फिर आकाश में अदृश्य अप्रकेत हो जाता है, वैसे जगत् भी अव्यक्तभाव में होता है। (यत् आभु तुच्छ्येन अपिहितमासीत्) जो जगत् तुच्छ अर्थात् सूक्ष्म अव्यक्तावस्था तम से आच्छादित होता है (तत् एकं तमसः महिना अजायत) वह एक अन्धकारावृत अवस्था के पश्चात् महत्तत्वरूप से उत्पन्न होता है अर्थात् प्रकृति से महत्तत्व की उत्पत्ति सब से प्रथम हुवा करती है। इस मन्त्र में यह कहा है कि प्रथम प्रकृति रहती है, उससे महत्तत्व उत्पन्न होता है। अब इस से अगले मन्त्र में यह कहा जाता है कि महत्तत्व से काम अर्थात् अहङ्कार की उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

इस से पूर्वमन्त्र ३ (महिनाऽजायतैकम्०) में महत्तत्व की उत्पत्ति कह चुके हैं। (तदग्रे कामः समधिवर्त्तत) उस महत्तत्व के पश्चात् काम=अहङ्कार उत्पन्न होता है, उसी को मन कहते हैं (मनसः रेतः प्रथमं यत् आसीत्) उस मन का बीज जो पूर्व था (कवयः मनीषा हृदि प्रतीष्य) विद्वान् लोग बुद्धि से हृदय में विचार करके (असति सतो बन्धुं निरविन्दन्) असत्-अप्रतीयमान अवस्था में सत्-प्रतीयमान जगत् के बन्धु=बान्धने वाले कर्म को जानते हैं अर्थात् प्रकृति से जगदुत्पत्ति में पूर्वकल्पकृत कर्म हेतु होते हैं। निष्प्रयोजन जगद्रचना नहीं होती। इस सब से जीव ब्रह्म प्रकृति और जीवों के कर्म प्रवाह से अनादि सिद्ध होते हैं ॥ ४ ॥

इस प्रकार महत्तत्व और अहङ्कार इन दोनों को सांख्य और योग शास्त्र में प्रकृति के परिणाम माना गया है तथा न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और

वेदान्त में शुद्ध प्रकृति के भाग विशेष माना गया है। इस प्रकार शास्त्रों में कोई विरोध नहीं किन्तु संज्ञाभेद और प्रक्रियाभेद मात्र है। अहङ्कार के सत्वगुणप्रधान भाग विशेष से ईश्वराज्ञानुकूल प्रत्येक जीव को एक आभ्यन्तर इन्द्रिय मन दिया गया है। अहङ्कार के तमोगुणप्रधान भाग विशेष से व्यापक दिशा और काल, व्यापक शब्द तन्मात्र, अणुस्पर्श तन्मात्र, रूप, तन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र; यह चारों भी उत्पन्न होते हैं। इन चारों को न्याय, वैशेषिक और मीमांसा में द्व्यणुक कहते हैं। शब्दतन्मात्र से आकाश, स्पर्शतन्मात्र से वायु, रूपतन्मात्र से तेज, रसतन्मात्र से जल और गन्धतन्मात्र से पृथिवी; यह पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

शङ्का-कार्यलिङ्ग से किसी कारण की सिद्धि तो अवश्य होती है पर उस कारण के नित्य होने में क्या लिङ्ग है? समाधान—

१६१-अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥ ४ ॥

(अनित्यः इति) " अनित्य " इस शब्द में (विशेषतः) विशेष का (प्रतिषेधभावः) निषेध होना पाया जाता है ॥

यदि नित्य कोई पदार्थ नहीं होता तो " अनित्य " शब्द में नञ् का अकार किस का निषेध करता? वस अनित्य कहना भी किसी के नित्य होने का लिङ्ग है ॥ ४ ॥

यदि कहो कि हम तो नित्य की अपेक्षा से नित्य नहीं कहते, तो उत्तर-

१६२-अविद्या ॥ ५ ॥

(अविद्या) तो आप की भ्रान्ति है। अर्थात् नित्य की अपेक्षा के बिना अनित्य मानना अविद्या वा भ्रान्ति है क्योंकि अनित्य शब्द में जो निषेधार्थक अकार है वह नित्य का ही तो निषेध कर सकता है ॥ ५ ॥

क्यों जी! यदि पृथिवी आदि तत्त्वों का मूल कारण प्रकृति है, तो फिर वह आंख से क्यों नहीं दीखती? उत्तर-

१६३-महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद्रूपाच्चोपलब्धिः ॥ ६ ॥

(महति) स्थूल वस्तु में अथवा महत्तत्व में (अनेकद्रव्यवत्त्वात्) अनेक द्रव्यवाला होने से (च) और (रूपात्) रूप से (उपलब्धिः) उपलब्धि होती है ॥

जो पदार्थ महान् होते हैं वा स्थूल होते हैं, वे अनेक द्रव्यों के संयोग से बने होते हैं और रूप वाले होते हैं इस लिये उन की आंख से उपलब्धि होती है, परन्तु प्रकृति ऐसी नहीं। अर्थात् प्रकृति में न तो अनेक द्रव्यों का संयोग है और न रूप है, इस लिये इस की उपलब्धि आंख से नहीं होती ॥ ६ ॥

प्रश्न—अच्छा तो प्रकृति की उपलब्धि तो आंख से इस लिये नहीं होती कि यह अनेक द्रव्य वाली नहीं, परन्तु वायु तो अनेक द्रव्यों वाला है, फिर वह आंख से क्यों नहीं दीखता, यह तो महान् है? उत्तर—

१६४—सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद्

वायोरनुपलब्धिः ॥ ७ ॥

(वायोः) वायु की (अनुपलब्धिः) उपलब्धि न होना (द्रव्यत्वे) द्रव्य होने (महत्त्वे) महान् होने (सति) पर (अपि) भी (रूपसंस्काराभावात्) रूपसम्बन्ध के न होने से है ॥

यद्यपि वायु द्रव्य है और महान् है परन्तु उस में रूप का सम्बन्ध नहीं है, इस कारण उस की उपलब्धि आंख से नहीं होती ॥ ७ ॥

प्रश्न—जिस रूप के सम्बन्ध से प्रत्येक द्रव्य आंख से उपलब्ध होने लगता है, स्वयं उस रूप की उपलब्धि किस से होती है? उत्तर—

१६५—अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥ ८ ॥

(अनेकद्रव्यसमवायात्) अनेक द्रव्यों के साथ सम्बन्ध होने से (च) और (रूपविशेषात्) रूप के विशेष से (रूपोपलब्धिः) रूप की उपलब्धि होती है ॥

जो पदार्थ अनेक द्रव्यों के संयोग से बनता है और द्रव्यों के साथ समवाय सम्बन्ध रखता है तथा अन्य रस गन्ध आदि से विशेष (भिन्नता) रखता है वही रूप आंख से उपलब्ध होता है ॥ ८ ॥ इसी प्रकार—

१६६—तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

(तेन) उसी प्रकार से (रसगन्धस्पर्शेषु) रस, गन्ध और स्पर्श; इन तीनों में भी (ज्ञानम्) ज्ञान को (व्याख्यातम्) कहा गया समझना चाहिये ॥

जिस प्रकार अनेक द्रव्यों के संयोग से और रूप विशेष से रूप उपलब्ध होता है उसी प्रकार समझना चाहिये कि अनेक द्रव्यों के संयोग और रस

विशेष से रस उपलब्ध होता है, अनेक द्रव्यों के संयोग और गन्ध विशेष से गन्ध उपलब्ध होता है और अनेक द्रव्यों के संयोग और गन्ध विशेष से गन्ध उपलब्ध होता है ॥ ९ ॥

शङ्का—पाषाणादि में जो गन्ध है वह तो नासिका से उपलब्ध नहीं होता, तब नवम सूत्र का व्याख्यान कैसे ठीक माना जाय? उत्तर—

१६७—तस्याऽभावादऽव्यभिचारः ॥ १० ॥

(तस्य) उस गन्ध विशेष के (अभावात्) उद्भूत न होने से (अव्यभिचारः) नियम का भङ्ग नहीं होता ॥

पाषाणादि में गन्ध है तो सही परन्तु छिपा हुवा है इस लिये उपलब्ध नहीं होता, तब नवम सूत्र का व्याख्यान शङ्का के योग्य नहीं रहता। यदि पाषाण में सर्वथा गन्ध न होता तो पाषाण के भस्म में गन्ध क्यों उपलब्ध होता। भेद केवल इतना है कि वही गन्ध जो पाषाण में छिपा हुवा है, पाषाण के भस्म में प्रकट वा उद्भूत होने से उपलब्ध होने लगता है ॥१०॥

क्यों जी! जैसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श; इन सब गुणों की उपलब्धि में एक एक इन्द्रिय से उपलब्ध होना कारण बताया गया, क्या इसी प्रकार संख्या परिमाण आदि गुणों की उपलब्धि में भी कोई कारण कहा जा सक्ता है? उत्तर, हां—

१६८—संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि ॥ ११ ॥

(संख्याः) संख्यायें, (परिमाणानि) परिमाण, (पृथक्त्वं) पृथक् होना, (संयोगविभागौ) संयोग और विभाग, (परत्वापरत्वे) परला होना और वरला होना, (कर्म) कर्म, (च) और स्नेह, द्रवता और वेग; ये सब भी (रूपिद्रव्यसमवायात्) रूपवाले द्रव्यों के साथ समवाय सम्बन्ध होने से (चाक्षुषाणि) आंख से उपलब्ध होने वाले हैं ॥

जिस प्रकार रूप गुण आंख से उपलब्ध होता है इसी प्रकार संख्यायें भी आंख से उपलब्ध होती हैं क्योंकि संख्यायें भी रूपवाले द्रव्यों के साथ समवाय सम्बन्ध रखती हैं, तथा जैसे रूप का आंख से ग्रहण होता है

वैसे ही परिमाणों (लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई, नीचाई, मोटाई) का भी आंख से ग्रहण होता है क्योंकि लम्बाई चौड़ाई आदि परिमाण भी रूपवाले द्रव्यों के साथ समवाय सम्बन्ध रखते हैं। तथा पृथक् होना गुण भी आंख से ग्रहण किया जाता है और संयोग और विभाग भी आंख से ग्रहण होते हैं क्योंकि पृथक्ता, संयोग और विभाग भी रूपवाले द्रव्यों के साथ समवाय सम्बन्ध रखते हैं। ऐसे ही परे होना वा वरे होना भी रूप वाले द्रव्यों के साथ समवाय सम्बन्ध रखने से चक्षु द्वारा ही उपलब्ध होता है। ऐसे ही कर्म भी चक्षु द्वारा उपलब्ध होता है क्योंकि कर्म भी रूपवाले द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध रखता है। इस सूत्र में चकार से (स्नेह) चिकनाई, (द्रवत्व) गीलापन, और (वेग) धक्का; इन का ग्रहण है क्योंकि चिकनाई, तरी और धक्का; ये सब भी रूपवाले द्रव्यों के साथ समवाय सम्बन्ध रखते हैं ॥ ११ ॥

१६९–अरूपिष्वचाक्षुषाणि ॥ १२ ॥

(अरूपिषु) रूपरहित द्रव्यों में (अचाक्षुषाणि) [संख्या आदि गुण] आंख से ग्रहण नहीं किये जाते ॥

जो पदार्थ रूपरहित हैं अर्थात् चक्षु का विषय नहीं हैं उन में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, वियोग, परत्व, अपरत्व, कर्म, स्नेह, द्रवत्व और वेग; ये सब गुण भी चक्षु का विषय नहीं होते ॥ १२ ॥

१७०–एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ १३ ॥

(एतेन) इसी से (गुणत्वे) गुणत्व जाति में (च) और (भावे) सत्ता में (सर्वेन्द्रियम्) सब इन्द्रियों से होने वाला (ज्ञानम्) ज्ञान (व्याख्यातम्) कहा गया समझना चाहिये ॥

जिस प्रकार चक्षुर्ग्राह्य द्रव्यों में संख्या आदि गुण आंख का विषय होते हैं तथा रूपरहित द्रव्यों में आंख का विषय नहीं होते, इसी प्रकार गुणत्व जाति और सत्ता में भी सर्वेन्द्रिय ज्ञान की व्याख्या होगई समझनी चाहिये॥१३॥

इस आह्निक में पृथिवी आदि सब भावों का मूल कारण तथा उन की परोक्षता और अपरोक्षता शङ्का समाधानपूर्वक परीक्षित की गई ॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथममान्हिकम्

अथ द्वितीयमाह्निकम्

प्रश्न-प्रकृति के होने में जो पृथिवी आदि कार्य द्रव्यों को लिङ्ग बताया गया वह, के प्रकार का होता है? उत्तर-

१७१-तत्पुनः पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ॥ १ ॥

(तत्) वह (पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं) पृथिवी आदि कार्यद्रव्य (पुनः) फिर (शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्) शरीर, इन्द्रिय और विषय नाम वाला (त्रिविधम्) तीन प्रकार का है ॥

पृथिवी आदि कार्य पदार्थ, जो प्रकृति के होने में लिङ्ग हैं, तीन २ प्रकार के होते हैं:-१-शरीररूप २-इन्द्रियरूप ३-विषयरूप ॥

इस दर्शन में जो पृथिवी आदि कार्य द्रव्य कहे गये हैं वे शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से तीन २ प्रकार के होते हैं, उन में से शरीर=भोक्ता के भोग का स्थान कहाता है, इन्द्रिय=शरीर के आश्रय से रहता हुआ अपने से छूने वाले विषय में प्रत्यक्ष प्रतीति का साधन कहाता है और विषय= इन्द्रियों से भिन्न, आत्मा के उपभोग का साधन द्रव्य विषय कहाता है। इस प्रकार पृथिवी तीन प्रकार की है, जल तीन प्रकार का, तेज तीन प्रकार का, वायु तीन प्रकार का और आकाश दो प्रकार का होता है (क्योंकि आकाश शरीर रूप नहीं होता)। काल एक प्रकार का होता है (क्योंकि काल न शरीर रूप होता, न इन्द्रिय रूप होता, केवल विषय रूप होता है)। दिशा भी एक प्रकार की होती है ॥

हम लोगों के शरीर=देह, नाक इन्द्रिय, मिट्टी पत्थर आदि विषय; यह तीन प्रकार की पृथिवी है। जलस्थ प्राणियों के शरीर, रसना इन्द्रिय, नदी समुद्र हिमालय इत्यादि विषय, इस रीति से तीन प्रकार का जल है। तेजोमण्डल में रहने वाले प्राणियों का शरीर, आंख इन्द्रिय, पृथिवी आकाश उदर और खानि में उत्पन्न अग्नि विषय, इस रीति से तीन प्रकार का अग्नि है। वायुमण्डलस्थ प्राणियों का शरीर, सब शरीर में रहने वाली त्वचा इन्द्रिय, वृक्षादि को हिलाने वाला तथा शरीर के भीतर घूमने वाला वायु

ग्राह्य विषय, इस रीति से तीन प्रकार का वायु है । यद्यपि प्राण एक है तथापि हृदय आदि भिन्न २ स्थानों में रहने से और मुख तथा नासिका आदि द्वारों में होकर निकलने से प्राण दश प्रकार का कहाता है-

१-प्राण, २-अपान ३-समान ४-उदान ५-व्यान ६-नाग ७-कूर्म ८-कृकल ९-देवदत्त और १०-धनञ्जय, ये सब १० प्राण के भेद हैं जैसा कि एक श्लोक में कहा गया है-

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ॥ १ ॥

हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, कण्ठ में उदान और समस्त शरीर में व्यान नाम से प्राण रहता है तथा उगलने का काम करने वाला वायु नाग कहाता है, पलक मारने का कूर्म, भूख लगाने का कृकल, जम्भाई लेने का देवदत्त और पुष्टि करने वाला प्राण वायु धनञ्जय कहाता है ॥

आकाश के दो भेद ये हैं-१कर्णपुट में रहनेवाला आकाश श्रोत्रइन्द्रिय है, तथा २-बाहर का समस्त आकाश विषय है । काल एक प्रकार का है परन्तु उस के भेद क्षण, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त्त, दिन, रात्रि, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष, युग और कल्पभेद से अनेक प्रकार के हैं, सो सब विषयरूप हैं, इस लिये काल एक प्रकार का है ॥

दिशा भी पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर और ऐशान भेद से यद्यपि आठ प्रकार की हैं और किन्हीं के मत में ऊपर और नीचे की दो मिलाकर १० प्रकार की हैं परन्तु ये सब केवल एक विषय रूप हैं, शरीररूप या इन्द्रियरूप नहीं होतीं ॥

मन केवल एक प्रकार का इन्द्रियरूप है,शरीररूप और विषयरूप नहीं ॥१॥

प्रश्न-पूर्व सूत्र में जो पृथिवी आदि कार्य द्रव्यों को शरीर इन्द्रिय विषय भेद से तीन प्रकार का कहा गया है, वह वह पृथिवी आदि कार्य द्रव्य पाञ्च महाभूतों से एक एक बनता है अथवा केवल एकला एकला ही है ? उत्तर-

१७२-प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षाणां संयोगस्याऽप्रत्य-
क्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते ॥ २ ॥

(प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षाणाम्) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष द्रव्यों का (संयोगस्य) संयोग (अप्रत्यक्षत्वात्) प्रत्यक्ष न होने से (पञ्चात्मकम्) एक एक में पाञ्च पाञ्च का संयोग (न) नहीं (विद्यते) है ॥

पृथिवी आदि एक एक कार्य द्रव्य में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अन्य चार द्रव्यों का संयोग होता तो पृथिवी प्रत्यक्ष न होती, प्रत्यक्ष होती है इस लिये पृथिवी को पञ्चभूतात्मक नहीं कह सकते । इसी प्रकार जल और तेज को समझो । वायु और आकाश, ये दोनों अप्रत्यक्ष हैं तब इन का संयोग प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है और जब संयोग प्रत्यक्ष नहीं तब किसी कार्य द्रव्य को पञ्चभूतात्मक कहना नहीं बनता ॥ २ ॥

क्योंजी ! पृथिवी आदि कार्य द्रव्यों को संयोगस्वरूप न मानकर संयोग से बना हुवा मानलें तब तो उन को एक २ में पाञ्च पाञ्च के संयोग वाला मान सकते हैं, इस में क्या दोष है ? उत्तर-

१७३-गुणान्तराऽभावाच्च ॥ ३ ॥

(गुणान्तराभावात्) अन्य गुणों के अभाव से (च) भी पृथिवी आदि कार्य द्रव्य को पञ्चात्मक नहीं मान सकते ॥

यदि पृथिवी आदि कार्य द्रव्य संयोग से बने होते तो अवश्य उन में अन्य नये गुण पाये जाते जैसा कि हलदी और चूने के मिलाने से हलदी में रक्तवर्ण पाया जाता है, परन्तु हम नहीं देखते कि पृथिवी आदि कार्य द्रव्यों में कोई नया गुण पाया जाता हो, इस लिये पृथिवी आदि कार्य द्रव्यों को पञ्चात्मक नहीं मान सकते ॥ ३ ॥

अच्छा पञ्चात्मक न सही, त्र्यात्मक तो मान सकते हो ? उत्तर नहीं,

१७४-न त्र्यात्मकम् ॥ ४ ॥

(त्र्यात्मकम्) तीन तीन के संयोग से बनाहुवा भी (न) नहीं मान सक्ते, क्योंकि अन्य गुणों को नहीं पाते ॥

जैसे पृथिवी आदि कार्य द्रव्य को अन्य नये गुणों के न पाये जाने से एक एक में पाञ्च पाञ्च का संयोग नहीं मानाजासकता ऐसे ही अन्य गुणों के न पायेजाने से एक एक को तीन तीन के संयोग वाला भी नहीं मान सक्ते क्योंकि १-पृथिवी २-जल और ३-अग्नि, इन तीनों के गुण भी पृथिवी आदि किसी एक द्रव्य में नहीं पाये जाते, इस लिये त्र्यात्मक मानना भी ठीक नहीं ॥ ४ ॥

यदि पृथिवी में गन्ध गुण के समान अन्य द्रव्यों के गुण रस और प्रकाश आदि नहीं होते भी पृथिवी में गीलापन जल का, पकना अग्नि का, उड़ना वायु का और अवकाश आकाश का गुण क्यों देखा जाता है ? उत्तर–

१७५–अणुसंयोगस्त्वऽप्रतिषिद्धः ॥ ५ ॥

(अणुसंयोगः) अणुओं का संयोग (तु) तो (अप्रतिषिद्धः) निषिद्ध नहीं किया गया ॥

हमने पहले दोनों सूत्रों में जो एक २ के पञ्चात्मक होने का निषेध किया है उस में हमारा तात्पर्य अणुसंयोग के निषेध का नहीं है अर्थात् पृथिवी आदि एक एक द्रव्य से बने हुए पार्थिव शरीरादि एक एक कार्य में अन्य द्रव्यों को उन कार्यों का बनाने वाला न मानने से यह तात्पर्य है कि असमवायीकारण रूप संयोग हम नहीं मानते, इतने से यह नहीं समझना चाहिये कि हम निमित्त कारण रूप संयोग को भी न मानते हों । इस लिये पार्थिव शरीर आदि कार्य द्रव्यों में यदि जल का गीलापन, अग्नि की गर्मी, वायु की क्रिया और आकाश का अवकाश पाया भी जाता है तो भी हमारे मत में कोई दोष नहीं क्योंकि हम अणुओं के संयोग का निषेध नहीं करते ॥ ५ ॥

आगे शरीरों का विभाग करते हैं कि शरीर कै प्रकार के होते हैं–

१७६–तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमऽयोनिजं च ॥ ६ ॥

(तत्र) उन में (शरीरं) शरीर (योनिजं) योनि से उत्पन्न होने वाला (च) और (अयोनिजं) बिना योनि के उत्पन्न होने वाला (द्विविधं) दो प्रकार का है ॥

पिछले पांच सूत्रों में जो पृथिवी आदि द्रव्यों को १–शरीर २–इन्द्रिय और ३–विषय नाम से तीन प्रकार का बताया गया है, उन तीनों में से १–शरीर दो प्रकार का होता है–१–योनिज, २–अयोनिज ॥

जल अग्नि और वायु से उत्पन्न शरीर अयोनिज होते हैं तथा पृथिवी से उत्पन्न शरीर योनिज तथा अयोनिज भी होते हैं, यह प्रशस्तपाद आचार्य का मत है । फिर योनिज भी दो प्रकार के होते हैं–१–जरायुज और २–अण्डज । गर्भ के लपेटने वाली झिल्ली जरायु कहाती है, उस से जन्म लेने वाले मनुष्य पशु और मृगों का शरीर जरायुज कहाता है । एक प्रकार के गोले

को अण्डा कहते हैं जो भीतर से पोला होता है और उसी के भीतर शरीर बनता है, उस के टूटने से जिन के शरीरों का जन्म होता है, उन पक्षियों और सांपों का शरीर अण्डज कहाता है । फिर अयोनिज शरीर भी चार प्रकार के होते हैं-१-साङ्कल्पिक, २-सांसिद्धिक, ३-स्वेदज और ४=उद्भिज्ज । १-परमात्मा के सङ्कल्प से प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होने वाले ऋषि मुनि महर्षि और साधारण मनुष्योंके और पशु आदि के शरीर साङ्कल्पिक कहाते हैं । २-योगियों को जो योग द्वारा सिद्धियें प्राप्त होती हैं, उन सिद्धियों के बल से योगी लोग जिस चाहे उस शरीर को धारण करते हैं, वे उन के शरीर सांसिद्धिक कहाते हैं । ३-डांस, मच्छर, ढ़ैत और अनेक प्रकार के जन्तु जो सील Dempness से उत्पन्न होते हैं, उन के शरीर स्वेदज कहाते हैं । ४-वृक्ष, वनस्पति, गुल्म, वीरुध्, लता, घास, फूंस आदि जो पृथिवी को फोड़कर उपजते हैं, उन के शरीर उद्भिज्ज कहाते हैं ॥ ६ ॥

शङ्का-सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने वाले जीवों के शरीर परमात्मा के सङ्कल्प मात्र से अयोनिज उत्पन्न हो जाते हैं, यह बात समझ में नहीं आई, क्योंकि उस का कारण नहीं बताया गया ? अब समाधान समझिये-

१७७-अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् ॥ ७ ॥

[सर्गारम्भ के शरीर जिस कारण से उत्पन्न होवें, उस कारण को] (अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात्) दिशा और देश पूर्व नियत न होने से [उन को अयोनिज ही मान सकते हैं] ॥

सृष्टि के आरम्भ में किसी दिशा वा देश में किसी जीव की कोई योनि शेष नहीं थी और प्रकृति जड़ होने से इस चमत्कारचातुरीयुक्त सृष्टि को उत्पन्न करले, यह सम्भव नहीं, इस लिये चेतन परमात्मा के सङ्कल्प से उपादान कारण प्रकृति में से इस आश्चर्यरूप जगत् का उत्पन्न होना माना जा सकता है, इस लिये सर्गारम्भ में उत्पन्न होने वाले मनुष्य पशु पक्षी कीट पतङ्ग आदि सब प्राणियों के देहों को परमात्मा के सङ्कल्प से उत्पन्न होने से साङ्कल्पिक कहा गया ॥ ७ ॥

प्रश्न-यदि ऐसा है तो समान कारण से उत्पन्न हुवे समस्त शरीर एक से होते ? भिन्न २ और विलक्षण सृष्टि की उत्पत्ति का क्या कारण है ? उत्तर-

१७८-धर्मविशेषाच्च ॥ ८ ॥

(धर्मविशेषात्) विशेष धर्म से (च) और विशेष अधर्म से ॥

सृष्टि के आरम्भ में जो जीव भिन्न २ देहों को धारण करते हैं, उन्हों ने पूर्व कल्प में भिन्न २ प्रकार के धर्म विशेष और अधर्म विशेष किये थे, बस उन्हीं धर्माऽधर्मों के विशेष (भिन्न २) होने से मनुष्य पशु पक्षी आदि एक दूसरे से विलक्षण शरीर उत्पन्न हुवे ॥

अर्थात् सातवें सूत्र में कहा हुआ ही एक हेतु नहीं है; जिस से दिशा और देश का पूर्व कारण में भेद न होने से सब के एकसे देह उत्पन्न होने की शङ्का बन सकती, किन्तु दूसरा हेतु भी जो इस आठवें सूत्र में कहा गया है, वह धर्म और अधर्म विशेष है, क्योंकि सब जीवों के धर्म अधर्म आपस में समान नहीं होते, इस लिये धर्माऽधर्म के फल भोगने के लिये जो देह उन को दिये जाते हैं, वे सब भी एकसे नहीं होते किन्तु अपने २ किये हुए धर्मविशेष और अधर्मविशेष से सब को भिन्न २ प्रकार के देह मिलते हैं ॥ ८ ॥

सर्गारम्भ के शरीरों के अयोनिज होने में अन्य भी हेतु है । यथा-

१७९-समाख्याभावाच्च ॥ ९ ॥

(समाख्याभावात्) प्रसिद्ध नाम पाये जाने से (च) भी ॥

अग्नि, वायु, रवि, भृगु, वशिष्ठ, गौतम, भरद्वाज, अङ्गिरा, जमदग्नि आदि कितने ही ऋषियों के नाम सदा से प्रसिद्ध हैं कि जिन का कोई पिता वा माता परमात्मा के अतिरिक्त नहीं था, इस ऐतिहासिक प्रमाण से भी साङ्कल्पिक अयोनिज शरीर सिद्ध होते हैं ॥ ९ ॥ क्योंकि--

१८०-संज्ञाया आदित्वात् ॥ १० ॥

(संज्ञायाः) संज्ञा के (आदित्वात्) सब से प्रथम होने से ॥

अग्नि, वायु, रवि आदि की संज्ञा (नाम) सब से प्रथम पाये जाते हैं, उन से पूर्व उन के पिता आदि का नाम नहीं पाया जाता, इस से उन को अयोनिज मानना बनता है ॥ १० ॥

१८१-सन्त्यऽयोनिजाः ॥ ११ ॥

(अयोनिजाः) बिना योनि से उत्पन्न हुवे (सन्ति) सिद्ध हैं ॥

छठे सूत्र से दशवें पर्यन्त सूत्रों में वर्णित और प्रमाणित अयोनिज शरीर अवश्य होते हैं, यह सिद्ध हुआ ॥ ११ ॥

इसी अर्थ की पुष्टि में अनुमान प्रमाण और ऐतिहासिक प्रमाण तो कहे गये, अगले सूत्र में वेद की साक्षी भी देते हैं—

१८२-वेदलिङ्गाच्च ॥ १२ ॥

(वेदलिङ्गात्) वेदों में चिन्ह पाये जाने से (च) भी ॥

ऋग्वेद अष्टक ८ अध्याय ७ वर्ग १८ ऋचा ५ "विश्वान् देवान् जगत्या विवेश। तेन चाक्लृपे ऋषयो मनुष्याः" तथा ऋग्वेद अष्टक ८ अध्याय ४ वर्ग १८ ऋचा १० "तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः" तथा यजुर्वेद अध्याय ३१ मन्त्र ८ भी अक्षरशः इसी ऋचा के समान है तथा अथर्व काण्ड १० अनुवाक ४ मन्त्र ८ " प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्। इत्यादि अनेक वेदमन्त्रों में पाया जाता है कि परमात्मा ने उपादान कारण से विना योनिविशेष के अनेक ऋषि मुनि आदि मनुष्यों, पशुओं और पक्षी आदि की सृष्टि को अयोनिज उत्पन्न किया। जैसा कि सूत्र संख्या १६० में भी कुछ विस्तार से निरूपण किया गया है। वे वेदमन्त्र भी अयोनिज सृष्टि में प्रमाण हैं ॥ १२ ॥

इस चतुर्थाध्याय के द्वितीय आन्हिक में पृथिवी आदि का शरीर इन्द्रिय विषयभेद से त्रिविध होना तथा फिर योनिज अयोनिज भेद से शरीर का द्विविध होना कहा गया ॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयमान्हिकम्

—※※—

इति श्री तुलसीराम स्वामि कृते वैशेषिक दर्शन भाषानुवादे चतुर्थोध्यायः

॥ ४ ॥

ओ३म्

अथ पञ्चमोऽध्यायः

तत्र

प्रथमसाह्निकम्

द्रव्यों की परीक्षा हो चुकी, आगे गुणों की परीक्षा करनी है, उस में गुणों की परीक्षा से पहले कर्मों की परीक्षा करना चाहते हुए पञ्चमाध्याय का आरम्भ करते हुवे वैशेषिकाचार्य मुनिवर कणाद ग्रन्थ पढ़नेवालों के उपकारार्थ प्रथम उत्क्षेपण नाम कर्म के विषय में कहते हैं कि-

१८३-आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥ १ ॥

(आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्याम्) मन सहित आत्मा के संयोग और प्रयत्न से (हस्ते) हाथ में (कर्म) उठाने या उछलने की क्रिया होती है ॥

जब कि कोई पुरुष यज्ञ या वेदपाठ आदि कर्मों में हाथ उठाना चाहता है तब उस के आत्मा में एक प्रकार का प्रयत्न उत्पन्न होता है, उस प्रयत्न से मन और आत्मा हाथ से संयोग करते हैं और तब हाथ में उठाने या उछलने का कर्म प्रकट होता है ॥

आशय यह है कि यद्यपि आत्मा अणु और सूक्ष्म है तथा हृदय में रहता है इस लिये आत्मा का संयोग हाथ के साथ साक्षात् नहीं हो सक्ता तथापि मन जो कि आत्मा और हाथ के बीच में है, वह एक ओर से आत्मा के प्रयत्न को ग्रहण करलेता है और दूसरी ओर हाथ से छूकर आत्मा से लिये हुए प्रयत्न को हाथ से लगा देता है तब उस प्रयत्न से प्रेरा हुआ हाथ उठने या उछलने का काम करने लगता है ॥ १ ॥

हाथ का उठना कहकर आगे मूसल का उठना कहते हैं-

१८४-तथा हस्तसंयोगाच्च मुशले कर्म ॥ २ ॥

(तथा) इसी प्रकार (हस्तसंयोगात्) हाथ के संयोग से (च) और भारी होने से (मुशले) मूसल में (कर्म) क्रिया होती है ॥

जिस प्रकार आत्मा की प्रेरणा से मन में प्रयत्न होता है और मन के संयोग से हाथ में, इसी प्रकार मूसल के बोझ से मूसल में उत्क्षेपणकर्म होता है ॥ २ ॥

क्यों जी ! जब मूसल ओखली में चोट खाकर फिर ऊपर को उछलता है, तब उस के ऊपर उठने में कारण क्या है ? क्या हाथ का संयोग ही उस का कारण है ? उत्तर, नहीं-

१८५-अभिघातजे मुशलादौ कर्मणि व्यतिरेका-
दऽकारणं हस्तसंयोगः ॥ ३ ॥

(अभिघातजे) चोट देने से उत्पन्न हुए (मुशलादौ) मूसल आदि में (कर्मणि) जो क्रिया उत्पन्न होती है उस में (हस्तसंयोगः) हाथ का संयोग (अकारणम्) कारण नहीं है (व्यतिरेकात) तद्भिन्न होने से ॥

हाथ से पकड़ कर जब मूसल को ओखली में मारते हैं तब मूसल फिर ऊपर को उठता है उस के उठने में केवल हाथ का संयोग कारण नहीं है क्यों कि चोट खाया हुवा मूसल आदि विना हाथ लगाये अपने आप भी ऊपर को उछलता है इस लिये हाथ का संयोग मूसल के उठने में कारण नहीं है किन्तु वेग कारण है ॥ ३ ॥ और भी-

१८६-तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि ॥ ४ ॥

(तथा) इसी प्रकार (आत्मसंयोगः) आत्मा का संयोग (हस्तकर्मणि) हाथ के उठने रूप कर्म में [कारण नहीं है] ॥ ४ ॥

प्रश्न-तो फिर हाथ के उठने में कारण क्या है ? उत्तर-

१८७-अभिघातान्मुशलसंयोगाद्धस्ते कर्म ॥ ५ ॥

(अभिघातात्) चोट मारने से (मुशलसंयोगात्) मूसल को पकड़े रहने से (हस्ते) हाथ में (कर्म) उठने की क्रिया होती है ॥

मूसल को ओखली में मारने से मूसल में वेग उत्पन्न होता है और वेगवान् मूसल के संयोग से हाथ में ऊपर को उठना रूप कर्म होता है, उस कर्म में आत्मा का संयोग वा मन का संयोग कारण नहीं, किन्तु मूसल में उत्पन्न हुवा वेग ही हाथ लगने से हाथ के उठने में कारण है ॥ ५ ॥

क्यों जी ! हाथ के उठने में तो मूसल का वेग कारण है परन्तु हाथ के साथ २ अन्य शरीर के उभार में क्या कारण है ? उत्तर-

१८८-आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च ॥ ६ ॥

(हस्तसंयोगात्) हाथ के संयोग से (च) और वेग से (आत्मकर्म) आपे [देह] में कर्म होता है ॥

अर्थात् उछलते हुए मूसल के साथ संयुक्त हुआ हाथ ऊपर को उठता है और उठते हुए हाथ के साथ संयुक्त होने से शरीर भी ऊपर को उठता है, तब शरीर के ऊपर उठने में भी आत्मा का प्रयत्न कारण नहीं, किन्तु हाथ का संयोग और वेग ही कारण है ॥ ६ ॥

प्रश्न-अच्छा, हाथ और मूसल के उठने में तो वेग कारण हुआ परन्तु मूसल के फिर नीचे गिरने में क्या कारण है क्योंकि हाथ अलग करलेने पर भी मूसल नीचे गिरा करता है ? उत्तर-

१८९-संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ ७ ॥

(संयोगाभावे) हाथ का संयोग न रहने पर (गुरुत्वात्) भारी होने से (पतनम्) गिरना होता है ॥ ७ ॥

क्यों जी ! भारी होने से केवल नीचे ही को गिरना क्यों होता है जब कि उठे हुए मूसल के चारों ओर एकसा आकाश है तब मूसल केवल नीचे ही को क्यों गिरता है ? पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर वा ऊपर को क्यों न गिरने लगे ? उत्तर-

१९०-नोदनविशेषाऽभावान्नोर्ध्वं न तिर्यग् गमनम् ॥ ८ ॥

(नोदनविशेषाभावात्) प्रेरणा विशेष के न होने से (ऊर्ध्वम्) ऊपर को (न) नहीं और (तिर्यग्) पूर्व पश्चिम दक्षिण उत्तर को तिरछा (गमनम्) गमन भी (न) नहीं होता ॥

ऊपर को उठा हुआ मूसल और भी ऊपर को उठता अथवा पूर्व पश्चिमादि दिशाओं को तिरछा जाता, यदि आत्मा में प्रेरणा विशेष होती, परन्तु प्रेरणा विशेष न होने से मूसल किसी अन्य दिशा को नहीं चलता किन्तु सूत्र ७ में कहे गुरुत्वकारण से जिस में पृथिवी और मूसल का गुरुत्वधर्म आकर्षक है, केवल नीचे को गिरता है ॥ ८ ॥

प्रश्न-प्रेरणा विशेष क्यों नहीं होती और क्यों होती है ? उत्तर-

१९१-प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः ॥ ९ ॥

(प्रयत्नविशेषात्) विशेष प्रयत्न से (नोदनविशेषः) विशेष प्रेरणा होती है ॥

जब आत्मा में कोई विशेष प्रयत्न होता है तब उस प्रयत्न से मन में, मन से हाथ में, और हाथ से मूसल में प्रेरणा उत्पन्न होती है तब मूसल तिरछा वा ऊपर को चलता है और प्रेरणा नहीं होती तब नहीं चलता ॥९॥

प्रश्न—अच्छा, विशेष प्रयत्न से विशेष प्रेरणा होती है सही परन्तु भारी द्रव्य के ऊपर को वा तिरछा चलने में क्या कहा गया? उत्तर—यह कहा गया है कि—

१९२—नोदनविशेषादुदसनविशेषः ॥ १० ॥

(नोदनविशेषात्) विशेष प्रेरणा से (उदसनविशेषः) विशेष उछाल होता है ॥

अर्थात् जैसी प्रेरणा होती है वैसा उछाल होता है । दूर फेंकने की प्रेरणा हो तो दूर तक उछाल होता है और अति दूर फेंकने की प्रेरणा हो तो अति दूर तक उछाल होता है । उछाल में ही तिरछा फेंकना भी अन्तर्गत समझना चाहिये ॥ १० ॥

प्रश्न—यदि प्रेरणा विशेष से विशेष उछलना होता है तो फिर खेलते हुए बालक के हाथ पांव चलना न होना चाहिये क्योंकि बालक में कोई प्रेरणा विशेष नहीं होती तो भी इधर उधर हाथ पांव चलते हिलते देखे जाते हैं? उत्तर—

१९३—हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

(हस्तकर्मणा) हाथ की क्रिया से (दारककर्म) बालकों की क्रिया (व्याख्यातम्) व्याख्या की गयी ॥

कन्दुक आदि फेंकने के समय आत्मा का संयोग और प्रयत्न मन की सहायता से हाथ में पहुंचता है, उस से हाथ चलता है, उस के साथ अन्य अङ्गों में भी क्रिया उत्पन्न हो जाती है ॥ ११ ॥

प्रश्न—क्या कोई और भी ऐसा कर्म है जो विशेष प्रेरणा के विना ही प्रेरणा मात्र से उत्पन्न हो जाता हो? उत्तर, हां—

१९४—तथा दग्धस्य विस्फोटने ॥ १२ ॥

(तथा) इसी प्रकार (दग्धस्य) फुंकी हुई वस्तु के (विस्फोटने) फोड़ने में॥

जैसे कन्दुक आदि फेंकने में बालकों के हाथ आत्मा और मन के प्रयत्न से चलते हैं और उस से अन्य अङ्गों में क्रिया उत्पन्न हो जाती है । इसी

प्रकार अग्नि के संयोग से थोड़े फुंके हुए पत्थर या फल आदि के फोड़ने या फाड़ने में उस पत्थर या फल आदि के अवयवों का दायें बायें या ऊपर को फटकर जाना इत्यादि क्रिया भी विशेष प्रेरणा के विना केवल साधारण प्रेरणा से होजाती है ॥ १२ ॥

प्रश्न जब कि मनुष्य सो जाता है या मर जाता है वा अन्य कारण से अचेत होजाता है, तब भी कभी २ उस के हाथ पांव हिल जाते हैं, तब प्रयत्न के विना भी हाथ पांव के हिलने में क्या कारण होता है ? उत्तर-

१९५-यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ॥ १३ ॥

१९६-तृणे कर्म वायुसंयोगात् ॥ १४ ॥

(प्रसुप्तस्य) सोये हुए या अचेत हुए के (यत्नाभावे) प्रयत्न न होने पर (चलनम्) हाथ पांव का हिलना (तृणे) तिनके में (कर्म) हिलने की क्रिया (वायुसंयोगात्) वायु के संयोग से होती है ॥

अचेत अवस्था में पड़े हुए मनुष्य के हाथ पांव हिलने में अथवा तृण आदि के हिलने में जो क्रिया होती है, उस का कारण वायु का संयोग है ॥ १३-१४ ॥

प्रश्न-चुम्बक पत्थर आदि के साथ लोहे की सुई आदि के चलने में क्या कारण है ? उत्तर-

१९७-मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमदृष्टकारणम् ॥ १५ ॥

(मणिगमनम्) कोई २ तृण विशेष जो तृणकान्तमणि की ओर चलता है और (सूच्यभिसर्पणम्) चुम्बकमणि की ओर सुई चलती है सो (अदृष्ट कारणम्) अदृष्टकारण वाली है ॥

इसी सूत्र के भाष्य में शङ्कर मिश्रादिकों ने कैसी मोटी भूल की है कि जो अदृष्ट शब्द का अर्थ पाप पुण्य कर दिया है। भला चुम्बक पत्थर के अभिमुख लोह शङ्कु वा सुई के चलने में सुई ने क्या पाप या पुण्य किया है ? वास्तव में यहां अदृष्ट शब्द का अर्थ प्रारब्ध पाप पुण्य कर्म नहीं किन्तु तृणकान्तमणि और चुम्बक मणि में स्थित अदृष्ट (विना देखी) आकर्षणशक्ति कारण है ॥१५॥ तथा-

१९८-इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः ॥ १६ ॥

(इषौ) धनुष् के रोदे से भिन्न हुए बाण में (अयुगपत्) अनेक समयों में (संयोगविशेषाः) भिन्न २ संयोग (कर्मान्यत्वे) कर्म के अन्य होने में (हेतुः) कारण बन जाते हैं ॥

धनुष् के रोदे से छूटे हुए बाण से उस बाण के गिरने तक बीच में अनेक कर्म होते हैं, उन का हेतु क्या है? उत्तर—अनेक समयों में होने वाले अनेक संयोग उन अन्य अनेक कर्मों का कारण होते हैं। कल्पना करो कि किसी धनुर्धारी ने धनुष में बाण लगाकर और बलपूर्वक आकर्णान्त खींच कर एक बाण चलाया और वह बाण रोदे से छूटकर इतने बल से आगे बढ़ा कि आधे कोस पर भूमि पर गिरेगा। बीच में कहीं वृक्षों की पत्तियों में को और कहीं लघुकाय पक्षियों में को होकर बाण निकला चलागया तो बाण के छोड़ने में प्रथम कारण धनुर्धारी के आत्मा, मन, हाथ और धनुष् की प्रत्यञ्चा; ये चार कारण हैं, परन्तु बीच में आने वाले वृक्षों की पत्तियों में छिद्र होना और पक्षियों के देहों का छिन्धना इत्यादि अनेक कर्मों का कारण बीच में होने वाले अनेक संयोग हैं॥ १६॥

प्रश्न—किस २ कारण से बाण के गिरने तक बाण में अनेक कर्म उत्पन्न होते हैं? उत्तर—

१९९—नोदनादाद्यमिषोः कर्म, तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च ॥ १७॥

(नोदनात्) प्रेरणा से (इषोः) बाण का (आद्यम्) पहला (कर्म) कान आरम्भ होता है (च) और (तत्कर्मकारितात्) उस कर्म के कर्त्ता पने से (संस्कारात्) संस्कार वश (उत्तरम्) अगला (तथा) इसी प्रकार (उत्तरम्) अगला (च) और (उत्तरम्) अगला [कर्म उत्पन्न होता है] ॥

जब बाण को प्रेरणा से छोड़ते हैं तब बाण के चलने में प्रेरणा कारण होती है, फिर बाण का चलना और वृक्षादि की पत्तियों का संयोग उन के छिन्धने का कारण होता है, इसी प्रकार आगे २ होने वाले कर्मों का कारण उन के पिछले २ कर्म होते हैं॥ १७॥ परन्तु—

२००—संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ १८॥

(संस्काराभावे) संस्कार के न रहने पर (गुरुत्वात्) भारी होने से (पतनम्) पतन हो जाता है॥

जब बाण में धनुर्धारी की प्रेरणा का बलसंस्कार समाप्त हो जाता है तब बाण अपने बोझ से आप गिर पड़ता है अर्थात् पृथिवी की आकर्षण शक्ति से पृथिवी की ओर खिंच जाता है॥ १८॥

जिस प्रकार लोक में हरएक कर्म किसी प्रयत्न का परिणाम होता है वही बात प्रसङ्गवश इस आह्निक में अच्छे प्रकार से वर्णित की गई है॥

इति पञ्चमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥ १॥

ओ३म्

अथ द्वितीयमान्हिकम्

आत्मा के अधिष्ठातृत्व में शरीर के अवयवों और उस से सम्बन्ध पाये हुए मूसल आदि साधन विशेषों में प्रयत्नादि कारण से उत्क्षेपण आदि कर्मों का लक्षण और परीक्षा समाप्त हुई। इस अगले आन्हिक में पृथिवी आदि द्रव्यों में प्रेरणादि से उत्पन्न होने वाले गमन आदि कर्म की परीक्षा के लिये प्रथम यह वर्णन करते हैं कि पृथिवी में अपने आप उत्पन्न होने वाला कर्म (भूकम्प आदि) किस प्रकार होता है—

२०१—नोदनाभिघातात्संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ॥ १ ॥

(नोदनाभिघातात्) प्रेरणा की चोट से (च) और (संयुक्तसंयोगात्) संयुक्त पदार्थों के साथ संयोग से (पृथिव्याम्) पृथिवी में (कर्म) गमन और भूकम्पादि क्रिया होती है ॥

पृथिवी में ऐसे द्रव्यों का संयोग विशेष है, जिन से उस का सूर्य के साथ आकर्षण हो और वह गति क्रिया से युक्त होकर आगे को चले और सूर्य की ओर आकर्षण के बल से उस की गति स्वयं अपनी परिक्रमा का कारण आप ही बने और उस की गति से जो हिलोर और रगड़ उत्पन्न हो उस से अपूर्व स्थानों में अपूर्व द्रव्यों का संयोग हो और उन संयुक्त द्रव्यों के संयोग से उस का फटना वा हिलना वा कांपना इत्यादि क्रिया उत्पन्न होवें॥१॥

पृथिवी के अपनी और सूर्य की परिक्रमा करने रूप क्रिया का कारण बतलाते हैं:—

२०२—तद्विशेषेणाऽदृष्टकारितम् ॥ २ ॥

(तद्विशेषेण) पृथिवीस्थ पृथिवी की विशेषता से (तत्) वह गति क्रिया (अदृष्टकारितम्) अदृष्ट आकर्षणशक्ति से कराई हुई है ॥ २ ॥

पृथिवी की क्रिया परीक्षित हो चुकी। अब जल की क्रिया की परीक्षा करेंगे, उस का आरम्भ करते हैं:—

२०३—अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ ३ ॥

(अपाम्) जलों के (गुरुत्वात्) भारी होने से (संयोगाभावे) संयोग न रहने पर (पतनम्) गिरना होता है ॥

अर्थात् ऊपर से छोड़ा हुवा जल, धारक पदार्थ के संयोग विना भारी होने से पृथिवी की आकर्षणशक्ति से पृथिवी पर गिर पड़ता है ॥ ३ ॥

२०४—द्रवत्वात् स्यन्दनम् ॥ ४ ॥

(द्रवत्वात्) गीला और पतला होने से (स्यन्दनम्) नीचान में को बहाव होता है ॥ ४ ॥

प्रश्न—यदि गीला और पतला होने से जल नीचे को बहता है तो फिर समुद्र का जल मेघ में पहुंचने के लिये ऊपर कैसे चढ़ता है ? वह तो सदा नीचे ही को बहना चाहिये ? उत्तर—

२०५—नाड्यवायुसंयोगादारोहणम् ॥ ५ ॥

(नाड्यवायुसंयोगात्) सूर्यकिरण और वायु के संयोग से [जलों का] (आरोहणम्) ऊपर को चढ़ाव होता है ॥

इस सूत्र से यह भी ध्वनि निकलती है कि यदि किसी नाड़ी (नली) में गर्मी भरी जावे और वह वायु को ऊपर को फेंके और फिर नीचे नली रिक्त होजावे तो अपने से छुए हुए पानी को ऊपर को खींचेगी ॥ ५ ॥

प्रश्न—सूर्य की किरण और वायु का संयोग के सिवाय कभी २ विना सूर्य की किरणों के भी पानी ऊपर को उठता देखा जाता है, जैसे फ़ौवारे में। सो क्यों ? उत्तर—

२०६—नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ॥ ६ ॥

(नोदनापीडनात्) धक्के और दबाव से (च) और (संयुक्तसंयोगात्) संयुक्त पदार्थ के संयोग से [भी पानी ऊपर को उठता है] ॥

२०७—वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ॥ ७ ॥

(इति) यह (अदृष्टकारितम्) अदृष्ट वृक्षस्थ जीव शक्ति का कराया हुवा काम है कि (वृक्षाभिसर्पणम्) वृक्ष की ओर पानी का खिंच जाना ॥

वृक्ष की जड़ में दिया हुवा पानी जो ऊपर को वृक्ष के पत्र और शाखाओं में पहुंच जाता है, उस का कारण वह अदृष्ट शक्ति है जो जीवित वृक्ष में परमात्मा ने छिपी हुई रक्खी है ॥ ७ ॥ और—

२०८—अपां संघातो विलयनञ्च तेजःसंयोगात् ॥ ८ ॥

(अपाम्) जल का (संघातः) जमाव (च) और (विलयनम्) गलकर पतला होजाना (तेजःसंयोगात्) तेज के संयोग से होता है ॥

आकाश मे जमे हुए पानी के ओले वर्षने में अथवा वर्फ़ जमाने की कलों में पानी के जमजाने में कारण दिव्य तेज का संयोग है और फिर वर्फ़ से वा ओले से गलकर पानी होजाने का कारण लौकिक गर्मी का संयोग है ॥८॥

२०९—तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम् ॥ ९ ॥

(तत्र) उस मेघमण्डल में ठहरे हुए जलों के जमाव में (विस्फूर्जथुः) बिजली की चमक और कड़क (लिङ्गम्) तेज की पहचान है ॥

यदि मेघ में दिव्यतेज का संयोग न होता तो बिजली की चमक और कड़क न पाई जाती। पाई जाती है, इस से जाना जाता है कि मेघस्थ जलों में दिव्यतेज बिजली का संयोग है, जो जल के पतला रहने के कारण लौकिक गर्मी को बल से बाहर फेंक देता है और जल को जमा देता है, जिस से सघन जल के संयोग से पाषाणतुल्य कठिन शिला सी बन जाती हैं और वे ही टूट २ कर ओले के रूप में वर्षती हैं। यही कारण वर्फ़ की कलों में है। फिर जब बिजली का प्रभाव वर्फ़ में से निकलता जाता है और उस के स्थान में लौकिक गर्म वायु घुसता जाता है तब वर्फ़ पिघल कर फिर पतला पानी हो जाता है ॥ ९ ॥ तथा—

२१०—वैदिकञ्च ॥ १० ॥

(च) और (वैदिकम्) वेद का भी यही सिद्धान्त है ॥

" गर्भोऽस्योषधीनां गर्भोवनस्पतीनाम्
गर्भोविश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि " ॥

(यजुः १२-३७)

अर्थ—अग्नि ओषधियों का गर्भ है, वनस्पतियों का गर्भ है, सब भूत मात्र का गर्भ है (और) " जलों का गर्भ=भीतर रहने वाला है " ॥

इसी प्रकार—

"गर्भोयो अपां गर्भोवनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम् ।
अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः" ॥

(ऋ० १ । ७० । २)

अर्थ—जो जलों के गर्भ में रहता है, वनस्थ वनस्पतियों के गर्भ में रहता है और स्थावर जङ्गम के गर्भ में रहता है और पहाड़ों के नीचे दुर्गम छिपे

स्थान में रहता है, जैसे कि प्रजाओं में स्वतन्त्र अमृत सर्वत्र वर्त्तमान है (वह अग्नि है) ॥ इसी प्रकार–

" गर्भो अस्योषधीनां गर्भोहिमवतामुत ।
गर्भोविश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि " ॥

(अथर्व ६ । १० । ९५ । ३)

अर्थ-(अग्नि) ओषधियों का गर्भ है और बर्फीले पर्वतों का गर्भ है । सब भूतमात्र का गर्भ है, (वह) इस मेरे नरोग्य को करे ॥ तथा–

" अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या
अयम् । अपां रेतांसि जिन्वति " ॥

(साम उ० १ । ३ । ७)

अर्थ-यह अग्नि ऊपर को जाने वाला द्युलोक की टाट है तथा पृथिवी और जलों के कणों को जोड़ता और पिंघलाता है ॥

इस प्रकार वेद में अन्य भी अनेक मन्त्र हैं जो जल के जमने और पिंघलने में दिव्य और लौकिक अग्नि को कारण बताते हैं ॥ १० ॥

आगे बिजली की चमक का कारण बतलाते हैं–

२११–अपां संयोगाद्विभागाच्च स्तनयित्नोः ॥ ११ ॥

(अपाम्) तेज को गर्भ में लिये हुए जलों के (संयोगात्) संयोग से (च) और (विभागात्) विभाग से (स्तनयित्नोः) बिजली की उत्पत्ति चमक और कड़क होती है ॥

आकाश में बिजली की चमक और कड़क का कारण मेघरूप जलों, बिजलियों और वायुवों की आपस में रगड़ है ॥ ११ ॥

आगे अग्नि और वायु की क्रियाओं की परीक्षा को पृथिवी की क्रिया की परीक्षा में अन्तर्गत होना कहते हैं–

२१२–पृथिवीकर्मणा तेजःकर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

(पृथिवीकर्मणा) पृथिवी की क्रिया के साथ (तेजःकर्म) तेज की क्रिया (च) और (वायुकर्म) वायु की क्रिया का (व्याख्यातम्) व्याख्यान हो चुका समझो ॥

जिस प्रकार पृथिवी में प्रेरणा आदि से क्रिया उत्पन्न होती है इसी

प्रकार अग्नि और वायु की क्रिया भी उत्पन्न होती समझनी चाहिये ॥ १२ ॥

अग्नि वायु और मन की अलक्ष्य अदृष्टकारित क्रिया क्या है ? उत्तर—

२१३—अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम् ॥ १३ ॥

(अग्नेः) अग्नि का (ऊर्ध्वज्वलनम्) ऊपर को लपट निकलना (वायोः) वायु का (तिर्यक्पवनम्) आगे पीछे दायें बायें चलना (अणूनाम्) परमाणुओं (च) और (मनसः) मन का (आद्यं) पहला (कर्म) काम (अदृष्टकारितम्) अदृष्ट का कराया हुवा है ॥

अर्थात् हमारी आंखों से अदृष्ट=न देखा हुवा कोई कारण है, जिस को हम स्वभाव कहते हैं, उसी कारण से अग्नि ऊपर को लपट लेता है, वायु तिरछा चलता है, परमाणु और मन में पहली क्रिया (हरकत) उत्पन्न होती है ॥ १३ ॥ तथा—

२१४—हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् ॥ १४ ॥

(हस्तकर्मणा) हाथ की क्रिया से (मनसः) मन की (कर्म) क्रिया का (व्याख्यातम्) व्याख्यान समझलो ॥

अर्थात् जैसे जीवात्मा की प्रेरणा से हाथ क्रिया करता है वैसे ही जीवात्मा की प्रेरणा से मन में भी क्रिया होती है ॥ १४ ॥

२१५—आत्मेन्द्रियमनोर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥ १५ ॥

(आत्मेन्द्रियमनोर्थसन्निकर्षात्) आत्मा=जीवात्मा, इन्द्रिय=नाक कान आदि, मन और विषय=रूपादि के परस्पर छूने से (सुखदुःखे) सुख और दुःख होते हैं ॥

अर्थात् आत्मा मन से छूता है, मन इन्द्रियों से छूता है और इन्द्रियां विषयों से छूती हैं । इस प्रकार विषयों का सुख और दुःख आत्मा तक पहुंचता है ॥ १५ ॥ अब इस सब कथन का फल निकालते हैं कि—

२१६—तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि, शरीरस्य दुःखाभावः स योगः ॥ १६ ॥

(मनसि) मन के (आत्मस्थे) अपने आपे ही में ठहर जाने पर (तदनारम्भः) इन्द्रियों द्वारा उन विषयों का विषयग्रहण आरम्भ नहीं होता

[तब] (शरीरस्य) शरीर को (दुःखाभावः) दुःख नहीं रहता (सः) वह (योगः) योग कहाता है ॥

अर्थात् योग उस अवस्था का नाम है जब कि मन अपने आपे में ही ठहर जावे और इन्द्रियों को प्रेरणा न करे और इन्द्रियां मन की सहायता न पाकर विषयों को न छुवें तब आत्मा को दुःख नहीं पहुंच सकता। यद्यपि योगदशा में जैसे इन्द्रियों और विषयों का स्पर्श होने से आत्मा को विषयों का दुःख नहीं पहुंच सकता, इसी प्रकार विषयों का सुख भी तो नहीं पहुंच सकता ? तो भी सूत्रकार ने केवल दुःख का अभाव कहा है, सुख का अभाव नहीं कहा, सो क्यों?

उत्तर-सुख का अभाव इस लिये नहीं कहा कि साधारण पुरुषों को दूसरे शब्दों में लौकिक पुरुषों को जिन रूपादि विषयों से सुख की प्रतीति होती है, उन्हीं विषयों से योगी को दुःख की प्रतीति होती है क्योंकि योगी का आत्मा योगसाधन की क्रिया करते २ ऐसा सुकुमार=नाजुक हो जाता है कि जो स्थूल विषय अन्यों को सुखदायक प्रतीत होते हैं वे ही विषय योगी को दुःखदायक प्रतीत होते हैं। इस में दृष्टान्त यह है कि जैसे मकड़ी का जाला जो रेशम से भी नरम होता है, अङ्गुली से छूने में कैसा सुखदायक प्रतीत होता है क्योंकि अङ्गुली का चमड़ा बड़ा मोटा और गंवार है। परन्तु वही मकड़ी का जाला यदि आंख से छू जावे तो आंख को सुखदायक होने के बदले दुःखदायक प्रतीत होता है क्योंकि आंख अङ्गुली के चमड़े की नाईं गंवार नहीं है किन्तु नगरनिवासियों के समान सुकुमार है। बस ऐसे ही योगी की दृष्टि में सब विषयों के सुख भी अपनी सुकुमारता के कारण दुःखों ही की गिनती में हैं। इस लिये सूत्रकार ने स्थिरचित्त योगी को केवल दुःख का अभाव कहा, सुख का अभाव नहीं कहा ॥ १६ ॥

अब मन की अन्य क्रियाओं को वर्णित करते हैं जो अदृष्ट=न देखेहुए प्रारब्धकर्मसंस्कार से होती हैं-

२१७-अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ॥ १७ ॥

(अपसर्पणम्) बाहर निकलजाना (उपसर्पणम्) समीप चलाआना (अशितपीतसंयोगाः) खाये पिये के संयोग (च) और (कर्मान्तरसंयोगाः) अन्य कर्मों के साथ अनेक संयोग; [ये सब] (अदृष्टकारितानि) विना देखे पूर्व जन्मकृत पाप पुण्यों से बने प्रारब्ध संस्कार से कराये हुए होते हैं॥

अर्थात मन का एक देह से निकलना, दूसरे देह में जाना, खाये पिये से मन का नवीन नवीन उत्पन्न होना, बढ़ना घटना और अन्य कार्यों में मन का लगना; ये सब फल प्रारब्ध कर्मानुसार होते हैं, जो अदृष्ट है ॥ १७ ॥

और जब ऐसा नहीं होता तब-

२१८-तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ॥ १८ ॥

(तदभावे) उस कर्मारम्भ के अभाव में (संयोगाभावः) आत्मा का मन आदि के साथ संयोग नहीं होता (च) और (अप्रादुर्भावः) जन्म नहीं होता (मोक्षः) वही मोक्ष है ॥ १८ ॥

२१९-द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद्भाभावस्तमः ॥ १९ ॥

(द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यात्) पृथिव्यादि द्रव्यों, रूपादि गुणों और उत्क्षेपण आदि कर्मों की सिद्धि से विरुद्ध धर्म होने से (भाभावः) प्रकाश का न होना (तमः) अन्धकार होता है ॥

अर्थात प्रकाश कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है किन्तु प्रकाश का अभाव ही अन्धकार कहाता है और प्रकाश के अभाव का कारण द्रव्यों, गुणों और कर्मों की सिद्धि का विपरीत होना है । तेल, बत्ती आदि द्रव्यों के वैधर्म्य से दीपशलाका के न रगड़ने रूप कर्म से प्रकाश गुण का न होना ही अन्धकार है, अन्धकार कोई भाव पदार्थ नहीं ॥ १९ ॥

२२०-तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ॥ २० ॥

(तेजसः) तेज के (द्रव्यान्तरेणावरणात) अन्य द्रव्य का आवरण होजाने से (च) भी [प्रकाश का अभाव=अन्धकार होता है] ॥ २० ॥

२२१-दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ॥२१॥

(दिक्कालौ) दिशा और काल (च) और (आकाशम्) आकाश (निष्क्रियाणि) क्रियारहित पदार्थ हैं क्योंकि (क्रियावद्वैधर्म्यात्) क्रिया वाले पदार्थों से विरुद्धधर्मी हैं ॥

जो पदार्थ मूर्त्तिमान् होते हैं, उन में क्रिया होती है, उन के विरुद्ध दिशा काल और आकाश अमूर्त हैं, इस वैधर्म्य से वे निष्क्रिय हैं । इस सूत्र में चकार से शङ्कर मिश्रादि टीकाकार आत्मा का ग्रहण करते हैं, आत्मा भी अमूर्त होने से निष्क्रिय है, यह दूसरी बात है कि आत्मा के सामीप्य से मन और इन्द्रियों में क्रिया उत्पन्न होती है ॥ २१ ॥

२२२-एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ॥ २२ ॥

(एतेन) इसी से (कर्माणि) कर्म (च) और (गुणाः) गुणों की (व्याख्याताः) व्याख्या की गयी ॥

अर्थात् जिस प्रकार दिशा काल और आकाश अमूर्त होने से निष्क्रिय हैं और आत्मा भी निष्क्रिय है, इसी प्रकार कर्मों और गुणों का भी निष्क्रिय होना समझ लेना चाहिये क्योंकि कर्म और गुण भी अमूर्त हैं ॥२२॥

यदि कहो कि गुण और कर्म तो मूर्त्तिमान् द्रव्यों में भी समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, फिर उन में क्रिया क्यों न मानी जाय, जब कि उन के आश्रय द्रव्यों में क्रिया है ? उत्तर-

२२३-निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यो निषिद्धः ॥ २३ ॥

(निष्क्रियाणाम्) निष्क्रिय गुण कर्मों का (समवायः) समवाय सम्बन्ध (कर्मभ्यः) कर्मों से (निषिद्धः) निषिद्ध किया गया है ॥

अर्थात् क्रिया तो संयोग से होती है न कि समवाय से । समवाय और संयोग में भेद यह है कि एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अनादिकाल से मिलाव=समवाय कहलाता है और भिन्न २ दो पदार्थों का एक दूसरे से नवीन मिलाव=संयोग कहाता है ॥ २३ ॥

प्रश्न-यदि गुण और कर्म दोनों निष्क्रिय हैं तो उन से कर्मों की उत्पत्ति क्यों होती है ? उत्तर-

२२४-कारणं त्वऽसमवायिनो गुणाः ॥ २४ ॥

(गुणाः) संयोगादि गुण, जो (कारणम्) कर्म का कारण होते हैं (तु) वे तो (असमवायिनः) समवायी गुण नहीं होते ॥ २४ ॥

अच्छा तो गुण और कर्म निष्क्रिय सही, परन्तु दिशा और काल तो निष्क्रिय नहीं हो सकते क्योंकि उन में क्रिया देखी जाती है, जैसा कि पूर्व दिशा में सूर्य उदय हो रहा है, पश्चिम में अस्त हो रहा है, दक्षिण में समुद्र उमगड रहा है और उत्तर में झरने बह रहे हैं इत्यादि । क्या ये दिशाओं में कर्म नहीं हुए ? इसी प्रकार-प्रातःकाल भ्रमण करता हूं, रात्रि में सोता हूं, दिन में अनेक काम करता हूं, इत्यादि। क्या इस से काल में क्रिया नहीं सिद्ध होती ? उत्तर-नहीं, क्योंकि-

२२५-गुणैर्दिग्व्याख्याता ॥ २५ ॥

(गुणैः) गुणों से (दिग्) दिशा का (व्याख्याता) व्याख्यान होचुका ॥

जिस प्रकार अमूर्त होने से कर्मों का समवायी कारण गुण नहीं होते, इसी प्रकार अमूर्त होने से पूर्वादि दिशाएं भी सूर्योदयादि क्रियाओं का समवायी कारण नहीं हैं किन्तु क्रियाओं का आधार होने से उपचार की रीति पर उन में क्रिया कही जाती है, वास्तव में नहीं। जैसे 'चटाई पर भोजन करता हूं' इस कथन में यद्यपि चटाई भोजन क्रिया का आधार है, परन्तु समवायी कारण नहीं ॥ २५ ॥ तथा-

२२६-कारणेन कालः ॥ २६ ॥

(कारणेन) निमित्त कारण होने से (कालः) काल का व्याख्यान भी हो चुका ॥

अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र की उत्पत्ति में सूत के डोरे तो समवायी कारण हैं परन्तु तुरी वेमादि अथवा तन्तुवाय=जुलाहा समवायी कारण नहीं किन्तु निमित्त कारण है, इसी प्रकार काल भी किसी क्रिया का समवायी कारण नहीं किन्तु निमित्त कारण है, इस लिये उस को सक्रिय नहीं कह सक्ते ॥२६॥

पञ्चमाध्याय के इस द्वितीय आन्हिक में पृथिवी आदि के कर्म और प्रसङ्गवश अन्धकार का वर्णन किया गया ॥

इति पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ॥ २ ॥

इति श्री तुलसीराम स्वामिकृते

वैशेषिकदर्शन भाषानुवादे

पञ्चमः कर्माध्यायश्च समाप्तः

॥ ५ ॥

ओ३म्

अथ षष्ठोऽध्यायः

तत्र

प्रथममाह्निकम्

इस वैशेषिकदर्शन में प्रथमाध्याय के तृतीय सूत्र में कहा गया था कि 'धर्म का प्रतिपादक होने से वेद की प्रामाणिकता है' इस लिये कर्म की परीक्षा के पश्चात् वेद का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये कहते हैं कि–

२२७–बुद्धिपूर्वा * वाक्यकृतिर्वेदे ॥ १ ॥

(वेदे) वेद में (वाक्यकृतिः) वाक्यरचना (बुद्धिपूर्वा) बुद्धिपूर्वक है अर्थात् वेदों में कोई वाक्य ऐसा नहीं है, जो बुद्धि के विपरीत हो, जैसा कि मनुष्यों की वाक्यरचना में कभी २ हो जाता है ॥ १ ॥

२२८–ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् ॥ २ ॥

(ब्राह्मणे) ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थ में (संज्ञाकर्म) संज्ञापूर्वक कर्मानुष्ठान (सिद्धिलिङ्गम्) प्रथम सूत्रोक्त विषय की सिद्धि का चिन्ह है। अर्थात् ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों में वेदोक्त पदार्थों की संज्ञा जानकर जो कर्मानुष्ठान बताया है वह कर्मानुष्ठान और उस का ठीक २ फल इस बात की सिद्धि में पहचान है कि वेदों की वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक है ॥ २ ॥ और भी–

२२९–बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥ ३ ॥

(ददातिः) दानक्रिया (बुद्धिपूर्वः) बुद्धिपूर्वक पाई जाती है ॥

वेदों में जिस प्रकार दान का वर्णन है, उस से पाया जाता है कि वेदों की वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक है। वेद के प्रकाशक ईश्वर ने उस को बुद्धिपूर्वक प्रकाशित किया है। जैसे:–

दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्। दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन् ॥ ऋ० । १० । १०७ । ७ ॥

---

* किसी २ पुस्तक में वाक्प्रकृति और किसी २ में वाक्कृति पाठ पाया जाता है, परन्तु अर्थ सब का एक है ॥

इस में वर्णन किया गया है कि दान करने से घोड़ा, गौ, आदि पशु, चांदी सोना आदि रत्न और अन्न जिस से हमारा जीवन है, मिलता है। इस लिये बुद्धिमान् मनुष्य दान=दक्षिणा को अपनी रक्षा के लिये कवचरूप से धारण करता है ॥

यह समस्त सूक्त दान के माहात्म्य में कथन किया गया है, जिस के पढ़ने से वेदों के प्रकाशक ईश्वर की चमत्कारिणी बुद्धिपूर्वकरचना का पता लगता है ॥ ३ ॥ और–

२३०–तथा प्रतिग्रहः ॥ ४ ॥

(तथा) इसी प्रकार (प्रतिग्रहः) किये हुए दान को ग्रहण करने [का वर्णन भी बुद्धिपूर्वक है] ॥ ४ ॥

२३१–आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥ ५ ॥

(आत्मान्तरगुणानाम्) अन्य आत्मा के गुणों को (आत्मान्तरे) अन्य आत्मा में (अकारणत्वात्) कारण न होने से ॥

वेद में दान का फल दाता को और प्रतिग्रह का फल लेने वाले को बतलाया गया है और यही बुद्धिपूर्वक है क्योंकि एक आत्मा के अनुष्ठान किये हुवे कर्म का फल दूसरे आत्मा को नहीं मिलना चाहिये किन्तु दाता को दान का फल और प्रतिग्रहीता को ग्रहण का फल मिलना चाहिये क्योंकि दाता दानक्रिया का कर्त्ता है और ग्रहीता ग्रहण क्रिया का कर्त्ता है ॥ ५ ॥

२३२–तद् दुष्टभोजने न विद्यते ॥ ६ ॥

(तत्) वह फल (दुष्टभोजने) दुष्टभोजन में (न) नहीं (विद्यते) है ॥

यदि दाता दुष्टभोजन का दान करे और प्रतिग्रह लेने वाला दुष्ट अन्न का भोजन करे तो वेद कहता है कि उन दोनों को शास्त्र में बताया फल नहीं होगा ॥ ६ ॥ प्रश्न–दुष्टभोजन किसे कहते हैं ? उत्तर–

२३३–दुष्टं हिंसायाम् ॥ ७ ॥

(हिंसायाम्) हिंसा में (दुष्टम्) भोजन दुष्ट होता है ॥

किसी प्राणी को दुःख देकर वा मारकर जो भोजन सिद्ध किया जावे वा जो भोजन दिया जावे वे दोनों भोजन दुष्ट हैं । चोरी से वा अन्याय से अथवा बल से वा अन्याय=प्राण लेकर जो दाता दान करता है और जो प्रतिग्रहीता उस दान को लेता है वे दोनों ही वेदोक्त फल नहीं पाते ॥ ७ ॥

२३४—तस्य समभिव्याहारतो दोषः ॥ ८ ॥

(तस्य) उस दुष्ट भोजन के (समभिव्याहारतः) खाने खिलाने से (दोषः) [हिंसा का] दोष लगता है ।

यद्यपि दाता ने स्वयं हिंसा न की हो और प्रतिग्रहीता ने भी स्वयम् हिंसा न की हो किन्तु जिस हिंसाजनित भोजन को उन्हों ने खिलाया और खाया है, उस के खाने खिलाने से भी खाने और खिलाने वाले को वेद में दोष बताया गया है ॥ ८ ॥ परन्तु—

२३५—तदऽदुष्टे न विद्यते ॥ ९ ॥

(तत्) वह दोष (अदुष्टे) निर्दोष भोजन में (न) नहीं (विद्यते) है ॥

जो भोजन हिंसादिदोषरहित है, उस में खाने खिलाने वालों को वेद में दोष नहीं बतलाया गया ॥ ९ ॥

२३६—पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः ॥ १० ॥

(पुनः) फिर (विशिष्टे) उत्तम सात्विक भोजन में (प्रवृत्तिः) खाने खिलाने की प्रवृत्ति करनी विहित है ॥

दुष्ट भोजन को त्यागकर श्रेष्ठ भोजन देना कहा है ॥ १० ॥

२३७—समे हीने वा प्रवृत्तिः ॥ ११ ॥

(वा) अथवा (समे) साधारण भोजन में (हीने) घृत दुग्धादि उत्तम गुणकारक द्रव्यों से रहित भोजन में भी (प्रवृत्तिः) दान की प्रवृत्ति [विहित] है॥११॥

२३८—एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

(एतेन) इस से (व्याख्यातम्) व्याख्यात समझना चाहिये कि (हीन, सम, विशिष्ट धार्मिकेभ्यः) अधम, मध्यम और उत्तम धार्मिक पुरुषों से (परस्वादानम्) परधन का ग्रहण करना विहित है ॥

अर्थात् हिंसादि दुष्ट कर्मों से रहित धार्मिक पुरुषों से प्रतिग्रह लेना चाहिये, चाहे वे उत्तम, मध्यम, अधम किसी कक्षा के धार्मिक हों किन्तु हिंसक पापी न हों ॥ १२ ॥ और—

२३९—तथा विरुद्धानां त्यागः ॥ १३ ॥

(तथा) इसी प्रकार (विरुद्धानाम्) धर्मविरोधियों का (त्यागः) प्रतिग्रह त्याग देना कहा है ॥ १३ ॥

२४०—हीने परे त्यागः ॥ १४ ॥

(परे) यदि दाता (हीने) धर्मानुष्ठान में अधम हो तो (त्यागः) दान लेना त्याग दे ॥ १४ ॥

२४१—समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥ १५ ॥

(समे) यदि दाता मध्यम धार्मिक हो तो (आत्मत्यागः) चाहे प्रतिग्रहीता अपने ग्राह्य पदार्थ का त्याग करदे (वा) अथवा (परत्यागः) दाता त्याग कर देवे ॥ १५ ॥ और—

२४२—विशिष्टे आत्मत्याग इति* ॥ १६ ॥

(विशिष्टे) यदि दाता अपने से उत्तम धार्मिक हो तो (आत्मत्यागः) प्रतिग्रहीता अपने आप त्याग देवे ॥

हम को बड़ा आश्चर्य होता है कि शङ्कर मिश्रादि टीकाकारों ने और उन की देखा देखी वर्तमान काल के संस्कृत और भाषा के टीकाकारों ने १४ से १६ तक सूत्रों के अर्थ में दान और प्रतिग्रह के प्रकरण में विरुद्ध शत्रु के मारने और न मारने का अर्थ अकारण क्यों जुवा लिया ? ॥ १६ ॥

इति षष्ठाध्यायस्य प्रथममान्हिकम् ॥ १ ॥

—:*:—

अथ द्वितीयमान्हिकम्

२४३—दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ॥१॥

(दृष्टादृष्टप्रयोजनानाम्) दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्मों में (दृष्टाभावे) दृष्ट के अभाव में (प्रयोजनम्) प्रयोग=अनुष्ठान (अभ्युदयाय) परलोक के सुख के लिये है ॥

अर्थात् वेद में दो प्रकार के कर्मानुष्ठान हैं । कुछ कर्मों का फल दृष्ट है, जो इस ही जन्म में होता देखा जाता है और दूसरे कर्मों का फल अदृष्ट है, जो जन्मान्तर में मिलता है, उसी के लिये ऐहिकफल के अभाव में अनुष्ठान बतलाये गये हैं ॥ १ ॥ जैसे:—

* कितनी ही पुस्तकों में 'इति' शब्द नहीं है, परन्तु यह शब्द आन्हिक की समाप्ति में और अर्थ की समाप्ति में होने से सार्थक जान पड़ता है ॥

२४४–अभिषेचनोपवास, ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास, वानप्रस्थ, यज्ञ, दान, प्रोक्षण, दिङ्, नक्षत्र, मन्त्र, काल, नियमाश्चादृष्टाय ॥ २ ॥

(अभि०–नियमाः) मन्त्रपूर्वक सिर पर जल छिड़कना=अभिषेचन, भोजन न करना=उपवास, भूमिशयनादि ब्रह्मचारी के नियमों का पालन=ब्रह्मचर्य, साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ने के लिये गुरु के समीप रहना=गुरुकुलवास, गृहस्थ को त्यागकर वन में रहकर वेदोक्त कर्म करना=वानप्रस्थ, अग्निहोत्रादि कर्म=यज्ञ, गौ आदि पदार्थों का सत्पात्रों को देना=दान, यज्ञ के स्रुवादि पदार्थों को जल से शुद्ध करना=प्रोक्षण, पूर्वादि दिशाओं में नियतरूप से यजमानादि का बैठना=दिक्, पुष्य आदि विहित नक्षत्रों में संस्कारादि कर्म करना=नक्षत्र, "ओं भूर्भुवः स्वः द्यौरिव भूम्ना०" इत्यादि मन्त्र पढ़कर अग्न्याधानादिकर्म करना=मन्त्र, उत्तरायण आदि समय विशेष में कर्म करना=काल, ये नियम (अदृष्टाय) अदृष्ट फल के लिये (च) और दृष्ट फल के लिये हैं॥ २॥ तथा–

२४५—चातुराश्रम्यमुपधा अनुपधाश्च ॥ ३ ॥

(चातुराश्रम्यम्) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों में विहित कर्म का अनुष्ठान (उपधाः) उपधायें (च) और (अनुपधाः) अनुपधायें भी विहित हैं॥

उपधा और अनुपधा का अर्थ अगले सूत्र में आचार्य ने स्वयम् कहा है ॥ ३ ॥ यथा–

२४६—भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा ॥ ४ ॥

(भावदोषः) श्रद्धा का दोष (उपधा) उपधा कहाता है (अदोषः) श्रद्धा में दोष न होना (अनुपधा) अनुपधा कहाता है ॥ ४ ॥

२४७–यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितञ्च तच्छुचि ।५।

(यत्) जो पदार्थ (इष्टरूपरसगन्धस्पर्शम्) मनभावने रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला, (प्रोक्षितम्) मन्त्रपूर्वक जल से शुद्ध किया हुवा (च) और (अभ्युक्षितम्) विना मन्त्र के धोया हुवा है (तत्) वह (शुचि) शुद्ध है ॥५॥ और–

२४८–अशुचीति शुचिप्रतिषेधः ॥ ६ ॥

(शुचि प्रतिषेधः) जो शुद्ध न हो, उस को (अशुचि) अशुद्ध (इति) ऐसा कहते हैं ॥ ६ ॥ और—

२४९—अर्थान्तरञ्च ॥ ७ ॥

(अर्थान्तरम्) विधान किये हुए पदार्थ से भिन्न दूसरा पदार्थ (च) भी अशुद्ध है ॥

जैसे जिस वर्ण को जिस सूत का यज्ञोपवीत धारण करना कहा है, उसी के लिये वह शुद्ध है किन्तु एक के लिये दूसरे का अशुद्ध है ॥ ७ ॥

प्रश्न तो क्या शुचिभोजन सब किसी से लेकर भोज्य है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि—

२५०—अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते नियमाभावात् ॥ ८ ॥

(नियमाभावात्) नियम के न रखने से (अयतस्य) अहिंसादि यमों के पालन न करने वाले का (शुचिभोजनात्) शुद्ध भोजन करने से (अभ्युदयः) लोक परलोक का कल्याण (न) नहीं (विद्यते) होता ॥

जो पुरुष अहिंसादि व्रतों का पालन नहीं करता उस म्लेच्छादि का दिया हुआ शुद्ध भोजन भी संसर्गदोष से दूषित है, इस लिये कल्याणकारी नहीं ॥ ८ ॥

२५१—विद्यते वार्थान्तरत्वाद् यमस्य ॥ ९ ॥

(वा) अथवा (यमस्य) अहिंसादि यम का (अर्थान्तरत्वात्) अन्य अर्थ होने से (विद्यते) शुचिभोजन से लोक परलोक का कल्याण होता भी है ॥

पूर्व सूत्र में अहिंसादि नियमों से रहित म्लेच्छादि के दिये सब प्रकार के संसर्ग का शुद्धभोजन में भी बचाव कहा था, इस सूत्र में दूसरा पक्ष करते हैं कि अथवा यदि यह विचार किया जाय कि यम=अहिंसादि का पालन दूसरी बात है और शुचि भोजन दूसरी बात है, इस लिये जब हिंसकादि का दिया भी शुचिभोजन हिंसादिदोषदूषित न हो तो लोक परलोक के अभ्युदय का बाधक नहीं है ॥ ९ ॥ और भी एक कारण है कि:—

२५२—असति चाभावात् ॥ १० ॥

(असति) शुद्ध भोजन में हिंसादि दोष के न होने पर (च) और (अभावात्) हिंसादि दोष न होने से लोक परलोक के कल्याण में बाधा नहीं ॥ १० ॥

कर्म की परीक्षा हो चुकी । अब दोष की परीक्षा का आरम्भ करते हैं:—

२५३--सुखाद्रागः ॥ ११ ॥

(सुखात्) सुख से (रागः) आसक्ति वा कामना होना है ॥

इसी से यह भी समझना चाहिये कि दुःख से द्वेष होता है ॥ ११ ॥

२५४--तन्मयत्वाच्च ॥ १२ ॥

(तन्मयत्वात्) तन्मय होजाने से (च) भी राग और द्वेष होते हैं ॥

निरन्तर सुख ही सुख का ध्यान करते रहने से मन सुखिया होजाता है तब उस को सुख में राग होजाता है, इसी प्रकार निरन्तर दुःख ही दुःख का ध्यान करते रहने से मन दुखिया होजाता है तब उस से द्वेष होता है ॥ १२ ॥

२५५--अदृष्टाच्च ॥ १३ ॥

(अदृष्टात्) पूर्व जन्म के प्रारब्ध कर्मों से (च) भी राग और द्वेष होते हैं ॥ १३ ॥

२५६—जातिविशेषाच्च ॥ १४ ॥

(जातिविशेषात्) विशेष जाति से (च) भी राग और द्वेष होते हैं ॥

जैसे मनुष्य जाति का दुग्ध, फल, पुष्पादि से राग तथा नकुल का सर्प से और घोड़े का भैंसे से जातिकृत द्वेष होता है ॥ १४ ॥

२५७—इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः ॥ १५ ॥

(धर्माधर्मप्रवृत्तिः) धर्म और अधर्म में प्रवृत्ति (इच्छाद्वेषपूर्विका) राग पूर्वक और द्वेषपूर्वक होती है ॥ १५ ॥

२५८—तत्संयोगो विभागः ॥ १६ ॥

(तत्) उस धर्माधर्म प्रवृत्ति से (संयोगः) जन्म (विभागः) और मृत्यु होते हैं ॥ १६ ॥

२५९—आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥ १७ ॥

(आत्मकर्मसु) आध्यात्मिक कर्मों के करने पर (मोक्षः) मोक्ष (व्याख्यातः) वेद में कहा गया है ॥ १७ ॥

इति षष्ठाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामीकृते वैशेषिकदर्शनभाषानुवादे श्रौतधर्माध्यायः षष्ठः समाप्तः

॥ ६ ॥

ओ३म्

अथ सप्तमोऽध्यायः

तत्र

प्रथममाह्निकम्

द्रव्यों और कर्मों की परीक्षा हो चुकी तथा बीच में अभावधर्मों की भी परीक्षा की गई। अब क्रमानुसार सप्तमाध्याय में गुणों की परीक्षा करेंगे, इस लिये गुण जो प्रथमाध्याय प्रथम आह्निक के छठे सूत्र में कहे थे, वह प्रकरण अब बहुत दूर हो गया है, इस लिये आचार्य उस दूरस्थ प्रकरण को स्मरण कराते हैं कि-

२६०—उक्ता गुणाः ॥ १ ॥

(गुणाः) गुण (उक्ताः) ११६ में कहे गये थे ॥ १ ॥

२६१—पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शाः द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ॥ २ ॥

(पृथिव्यादि–स्पर्शाः) पृथिवी आदि द्रव्यों के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, गुण (द्रव्यानित्यत्वात्) द्रव्य की अनित्यता से (अनित्याः) अनित्य (च) भी हैं ॥

अर्थात् अनित्य पृथिवी का गुण गन्धादिक भी अनित्य है, इसी प्रकार अनित्य अग्नि का गुण रूप भी अनित्य है। अनित्य जल का गुण रस भी अनित्य है। अनित्य वायु का गुण स्पर्श भी अनित्य है ॥ २ ॥

पृथिवी आदि द्रव्य कार्य कारण-भेद से अनित्य और नित्य भी होते हैं। उन में से अनित्य द्रव्यों के गुणों को इस सूत्र में अनित्य कहा गया। आगे नित्य द्रव्यों के गुणों को नित्य समझना चाहिये सो कहते हैं:-

२६२—एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥ ३ ॥

(एतेन) पूर्वोक्त कथन से ही (नित्येषु) नित्य द्रव्यों में (नित्यत्वम्) गुणों की भी नित्यता (उक्तम्) कही गई ॥ ३ ॥

२६३—अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात् ॥ ४ ॥

(द्रव्यनित्यत्वात्) द्रव्य के नित्य होने से (अप्सु) जल के परमाणुओं में (तेजसि) अग्नि के परमाणुओं में (च) और (वायौ) वायु के परमाणुओं में (नित्याः) गुण भी नित्य हैं ॥

जल के परमाणुओं में रस, रूप और स्पर्श; अग्नि के परमाणुओं में रूप और स्पर्श, वायु के परमाणुओं में स्पर्श गुण नित्य हैं, ऐसा शङ्कर मिश्रादि व्याख्यान करते हैं परन्तु परमाणु रूप नित्यद्रव्यों में अनित्यद्रव्यों के गुण संभव नहीं, इस लिये हमारे मत में सूत्र का यही अभिप्राय है कि जलपरमाणुओं में रस, अग्निपरमाणुओं में रूप और वायुपरमाणुओं में स्पर्श; केवल यही नित्य गुण हैं ॥

इस सूत्र में पृथिवी के परमाणुओं का गन्ध गुण नित्य कहने में न जाने क्यों छोड़ दिया गया, इस विषय पर प्रायः सभी टीकाकार बिना किसी तर्क के चुपचाप इस शङ्का की ओर ध्यान नहीं लाये ॥ ४ ॥

२६४—अनित्येष्वनित्या द्रव्याऽनित्यत्वात् ॥ ५ ॥

(द्रव्यानित्यत्वात्) द्रव्यों के अनित्य होने से (अनित्येषु) अनित्य कार्य द्रव्यों में (अनित्याः) गुण भी अनित्य हैं ॥ ५ ॥

२६५—कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः ॥ ६ ॥

(पृथिव्यां) कार्य रूप पृथिवी में (पाकजाः) अन्य द्रव्यों के साथ पकने से उत्पन्न हुए रस रूप और स्पर्श गुण (कारणगुणपूर्वकाः) अपने २ कारणों के गुणों से आये हुए होते हैं ॥

पृथ्वी में केवल गन्ध गुण तो अपना है और रूपादि गुण अग्नि आदि अन्य द्रव्यों के साथ पकने से उत्पन्न होजाते हैं ॥ ६ ॥ क्योंकि-

२६६—एकद्रव्यत्वात् ॥ ७ ॥

प्रत्येक गुण का केवल एक ही द्रव्य होने से ॥ ७ ॥

२६७—अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुप-लब्धी नित्ये व्याख्याते ॥ ८ ॥

(अणोः) अणु की (च) और (महतः) महत् की (उपलब्ध्यनुपलब्धी) अनुपलब्धि और उपलब्धि (नित्ये) नित्य (व्याख्याते) कहीं समझनी चाहियें ॥

प्रत्येक अणु अर्थात् सूक्ष्मपदार्थ की उपलब्धि नहीं होती और महत् पदार्थ की उपलब्धि होती है, यह उपलब्ध और अनुपलब्ध होना सार्वकालिक नित्य है ॥ ८ ॥

२६८—कारणबहुत्वाच्च ॥ ९ ॥

(कारणबहुत्वात्) बहुत कारणों के होने से (च) भी महत् पदार्थ में महत्त्व=बड़ापन होजाता है ॥ ९ ॥

२६९—अतोविपरीतमणु ॥ १० ॥

(अतः) इस से (विपरीतम्) विरुद्ध (अणु) परमाणु रूप अणुपदार्थ में महत्त्व=बड़ा पन नहीं होता ॥ १० ॥

२७०—अणु महदिति तस्मिन् विशेषभावाद्विशेषाऽभावाच्च ॥ ११ ॥

(अणु) छोटा (महत्) बड़ा (इति) यह व्यवहार (तस्मिन्) उस पदार्थ में (विशेषभावात्) विशेष होने से (च) और (विशेषाऽभावात्) विशेष न होने से भी होता है ॥

एक ही पदार्थ को दूसरे पदार्थ की अपेक्षा से छोटा कहसकते हैं और उसी को तीसरे पदार्थ की अपेक्षा से बड़ा भी कह सकते हैं। जैसे—एक ही आंवला (आमलकीफल) बिल्व से छोटा और गेहूं से बड़ा कहाता है ॥ ११ ॥

२७१—एककालत्वात् ॥ १२ ॥

(एककालत्वात्) एक काल में होने से ॥

जिस काल में हम आंवले को बिल्व से छोटा कहते हैं, उसी एक काल में उसी आंवले को गेहूं से बड़ा भी कहते हैं ॥ १२ ॥

२७२—दृष्टान्ताच्च ॥ १३ ॥

(च) और (दृष्टान्तात्) दृष्टान्त से भी सिद्ध है ॥

जैसा एक दृष्टान्त आंवले का पूर्व सूत्रों में दिया गया, ऐसे ही अन्य अनेक दृष्टान्त सर्वत्र देखे जाते हैं। जैसे गौ हाथी से छोटी और बकरी से बड़ी होती है, इत्यादि ॥ १३ ॥

प्रश्न—तो क्या छोटेपन का छोटापन और बड़ेपन का बड़ापन भी होता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि—

प्रत्येक अणु अर्थात् सूक्ष्मपदार्थ की उपलब्धि नहीं होती और महत् पदार्थ की उपलब्धि होती है, यह उपलब्ध और अनुपलब्ध होना सार्वकालिक नित्य है ॥ ८ ॥

२६८—कारणबहुत्वाच्च ॥ ९ ॥

(कारणबहुत्वात्) बहुत कारणों के होने से (च) भी महत् पदार्थ में महत्त्व=बड़ापन होजाता है ॥ ९ ॥

२६९—अतोविपरीतमणु ॥ १० ॥

(अतः) इस से (विपरीतम्) विरुद्ध (अणु) परमाणु रूप अणुपदार्थ में महत्त्व=बड़ा पन नहीं होता ॥ १० ॥

२७०—अणु महदिति तस्मिन् विशेषभावाद्विशेषाऽभावाच्च ॥ ११ ॥

(अणु) छोटा (महत्) बड़ा (इति) यह व्यवहार (तस्मिन्) उस पदार्थ में (विशेषभावात्) विशेष होने से (च) और (विशेषाऽभावात्) विशेष न होने से भी होता है ॥

एक ही पदार्थ को दूसरे पदार्थ की अपेक्षा से छोटा कहसकते हैं और उसी को तीसरे पदार्थ की अपेक्षा से बड़ा भी कह सकते हैं। जैसे—एक ही आंवला (आमलकीफल) बिल्व से छोटा और गेहूं से बड़ा कहाता है ॥११॥

२७१—एककालत्वात् ॥ १२ ॥

(एककालत्वात्) एक काल में होने से ॥

जिस काल में हम आंवले को बिल्व से छोटा कहते हैं, उसी एक काल में उसी आंवले को गेहूं से बड़ा भी कहते हैं ॥ १२ ॥

२७२—दृष्टान्ताच्च ॥ १३ ॥

(च) और (दृष्टान्तात्) दृष्टान्त से भी सिद्ध है ॥

जैसा एक दृष्टान्त आंवले का पूर्व सूत्रों में दिया गया, ऐसे ही अन्य अनेक दृष्टान्त सर्वत्र देखे जाते हैं। जैसे गौ हाथी से छोटी और बकरी से बड़ी होती है, इत्यादि ॥ १३ ॥

प्रश्न—तो क्या छोटेपन का छोटापन और बड़ेपन का बड़ापन भी होता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि—

२७७—अनित्येऽनित्यम् ॥ १८ ॥

(अनित्ये) अनित्य द्रव्य में (अनित्यम्) यह चारों परिमाण अनित्य होते हैं ॥ १८ ॥ और-

२७८—नित्ये नित्यम् ॥ १९ ॥

(नित्ये) नित्य द्रव्य में (नित्यम्) परिमाण भी नित्य होते हैं ॥ १९ ॥

उदाहरण-

२७९—नित्यं परिमण्डलम् ॥ २० ॥

(परिमण्डलम्) परमाणु का परिमाण (नित्यम्) नित्य है ॥ जैसे परमाणु द्रव्य नित्य है, वैसे उस का परिमाण भी नित्य है ॥ २० ॥

प्रश्न-इस का कैसे निश्चय हो कि परमाणु में भी परिमाण है ? उत्तर-

२८०--अविद्या च विद्यालिङ्गम् ॥ २१ ॥

(अविद्या) अविद्या (च) भी (विद्यालिङ्गम्) विद्या की पहचान है ॥

अविद्या से विद्या पहचानी जाती है क्योंकि अविद्या में विद्या का निषेध है । इसी प्रकार स्थूल पदार्थों के महत्त्व और दीर्घत्व परिमाण से परमाणु का अणुत्व और ह्रस्वत्व भी पहिचाना जाता है ॥ २१ ॥

परमाणु का नित्य परिमाण उदाहरण में दिया गया, अब आगे परमात्मा और आकाश का महत्त्व परिमाण नित्य है, यह दूसरा उदाहरण देते हैं-

२८१—विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा ॥ २२ ॥

(विभवात्) व्यापक होने से (आकाशः) आकाश (च) और (आत्मा) परमात्मा (महान्) महत्त्वपरिमाणयुक्त हैं ॥

व्यापक होने से नित्य द्रव्य आकाश और परमात्मा का महत्त्व परिमाण भी नित्य है ॥ २२ ॥

२८२—तदभावादणु मनः ॥ २३ ॥

(तदभावात्) सर्वव्यापक न होने से (मनः) मन वाला आत्मा-जीवात्मा (अणु) अणुत्व परिमाण वाला है ॥

शङ्कर मिश्रादि टीकाकार इस सूत्र का यह अर्थ करते हैं कि " व्यापक न होने से मन अणु है " । यह कथन सर्वशास्त्रविरुद्ध है क्योंकि मन लिङ्ग शरीर का एक अवयव है, जैसा कि "सप्तदशैकं लिङ्गम् । सांख्य ३ । ९" इस

सूत्र में १७ वा १८ तत्त्वों का लिङ्ग शरीर कहा है और वे सभी तत्त्व उत्पत्तिमान् हैं और कोई उत्पत्ति वाला पदार्थ न अणु हो सकता, न महान् हो सकता किन्तु परमाणु और जीवात्मा अणु हैं और परमात्मा महान् है, ये ही पदार्थ अजन्मा हैं। शेष सब जन्म हुए होने से मध्यमपरिमाण हैं। छान्दोग्य ६।५।४ में लिखा है कि "अन्नमयं हि सोम्य मनः" अर्थात् मन अन्न से बनता है, तब वह अणु कैसे हो सकता है? मुण्डक २।१।३ में भी लिखा है कि "एतस्मात् प्रजायन्ते मनः सर्वेन्द्रियाणि च"। इस में भी मन की उत्पत्ति लिखी है और उत्पत्ति वाला कोई पदार्थ न अणु हो सकता, न नित्य हो सकता। इस लिये इस सूत्र में 'मनः' शब्द से मन का सहचारी जीवात्मा ही समझना चाहिये ॥ २३ ॥

२८३—गुणैर्दिग्व्याख्याता ॥ २४ ॥

(गुणैः) गुणों के साथ (दिक्) दिशा (व्याख्याता) व्याख्यात हो चुकी ॥

परत्व अपरत्व आदि गुणों के समान दिशा का भी व्याख्यान समझना चाहिये ॥ २५ ॥

२८४—कारणेन कालः ॥ २५ ॥

(कारणेन) कारण से (कालः) काल का व्याख्यान होगया ॥

जितने पदार्थ उत्पत्तिमान् हैं सब की उत्पत्ति में काल निमित्त कारण है, इस लिये समझना चाहिये कि काल सामान्य विभु पदार्थ है ॥ २५ ॥

इस प्रथम आन्हिक में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, चार प्रकार का परिमाण, गुणों का स्मरण कराकर परीक्षापूर्वक वर्णन किया गया ॥

इति सप्तमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

—:०*०:—

अथ द्वितीयमाह्निकम्

परीमाण की परीक्षा कर चुके, अब संख्या की परीक्षा करना चाहते हैं। इस लिये प्रथम संख्या को रूपादि गुणों से भिन्नवस्तुता सिद्ध करते हैं कि—

२८५—रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् ॥ १ ॥

(रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकात्) रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि से अतिरिक्त होने से (एकत्वम्) एकत्व आदि संख्या (अर्थान्तरम्) अन्य वस्तु है ॥

रूपादिक उपलक्षणमात्र हैं, उन से अन्य गुणों का भी ग्रहण करना चाहिये । एकत्व भी उपलक्षणमात्र है, उस से द्वित्व त्रित्व आदि का भी ग्रहण करना चाहिये । एक घट, दो मठ, तीन वस्त्र, चार पुस्तक, पांच तत्त्व, छः ऋतु, सात छन्द, जिस प्रकार संख्यावान् हैं, इसी प्रकार एक ब्रह्म, एक आकाश, चार दिशा, बहुत जीव, इत्यादि प्रकार से निर्गुण पदार्थों में भी संख्या रहती है, इसी लिये संख्या एक भिन्न गुण हैं, जो रूपादि गुणों के अन्तर्गत नहीं हो सकती ॥ १ ॥ और भी-

२८६-तथा पृथक्त्वम् ॥ २ ॥

(तथा) इसी प्रकार (पृथक्त्वम्) पृथक्त्व गुण भी रूपादि से भिन्न है ॥ जैसे एक घट दूसरे घट से पृथक् है तब घट का एक होना और दूसरे घट से पृथक् होना रूपादि गुणों के अन्तर्गत नहीं हो सकता ॥ २ ॥

२८७—एकत्वैकपृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वा-भावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ ३ ॥

(एकत्वैकपृथक्त्वयोः) एकत्व और एकपृथक्त्व में (एकत्वैकपृथक्त्वाभावः) दूसरे एकत्व और दूसरे एकपृथक्त्व का अभाव है, जो (अणुत्वमहत्त्वाभ्याम्) अणुत्व और महत्त्व के साथ (व्याख्यातः) वर्णन किया गया-एकत्व में दूसरा एकत्व और पृथक्त्व में दूसरा पृथक्त्व नहीं होता। जैसे अणुत्व में दूसरा अणुत्व और महत्त्व में दूसरा महत्त्व नहीं होता, जिस का व्याख्यान ७।१।१४ में हो चुका है ॥३॥

यदि कहो कि उत्क्षेपणादि कर्मों और रूपादि गुणों में द्वित्वादि संख्या न सही परन्तु सब को मिलाकर एकत्व तो है? तो उत्तर-

२८८-निःसंख्यत्वात्कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते ॥ ४ ॥

(कर्मगुणानाम्) कर्मों और गुणों के (निःसंख्यत्वात्) संख्यारहित होने से (सर्वैकत्वम्) सब का एक होना (न) नहीं (विद्यते) होता ॥

कर्म और गुणों को मिलाकर सब को एकत्व संख्या में भी अन्तर्गत नहीं कर सकते क्योंकि कर्म और गुण संख्या से भिन्न पदार्थ हैं ॥ ४ ॥

यदि कहो कि कर्मों और गुणों में संख्या का व्यवहार तो पाया जाता है, जैसा कि एक काम तुम करो, दूसरा मैं करता हूं, एक रूप को तुम देखो, दूसरे को मैं देखता हूं, इत्यादि? तो उत्तर-

२८९—भ्रान्तं तत्॥ ५ ॥

(तत्) वह (भ्रान्तम्) भ्रान्तियुक्त है ॥

कर्म और गुण में रहने वाली संख्या को कर्मरूप वा गुणरूप समझना भ्रान्ति है किन्तु वास्तव में जैसे द्रव्यों में रहने पर भी गुण स्वयं द्रव्यरूप नहीं किन्तु भिन्न पदार्थ हैं, ऐसे ही संख्या को भी समझना चाहिये ॥ ५ ॥

२९०—एकत्वाभावाद्भक्तिस्तु न विद्यते ॥ ६ ॥

(एकत्वाभावात्) एकत्व न होने से (तु) तो (भक्तिः) समान धर्म (न) नहीं हो सकता ॥

अर्थात् यदि संख्या को सर्वत्र भ्रान्त मानकर केवल भाक्त मानें तो भी ठीक नहीं क्योंकि यदि संख्या कोई मुख्य पदार्थ न हो तो उस का भाक्त=गौण प्रयोग भी न होसके परन्तु होता है, इस लिये संख्या रूपादि से भिन्न एक गुण है ॥ ६ ॥

२९१—कार्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावा-
देकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते ॥ ७ ॥

(कार्यकारणयोः) कार्य और कारण में (एकत्वैकपृथक्त्वाभावात्) एकत्व और एकपृथक्त्व न होने से (एकत्वैकपृथक्त्वम्) एकत्व और एकपृथक्त्व (न) नहीं (विद्यते) है ॥

अर्थात् यह आवश्यक नहीं कि कार्य में एकत्व संख्या हो तो कारण में भी एकत्व हो तथा यह भी आवश्यक नहीं कि कार्य में एकपृथक्त्व हो तो कारण में भी एकपृथक्त्व ही हो क्योंकि कार्य और कारण में एकत्व और एकपृथक्त्व नियत नहीं ॥

हो सकता है कि कारणों में बहुत्व हो और कार्य में एकत्व हो तथा यह भी हो सकता है कि कारण में एकत्व हो और कार्यों में बहुत्व हो। जैसे एक मृत्तिकारूप कारण से अनेक घटरूप कार्य होते हैं तथा अनेक धागे रूप कारणों से एक वस्त्ररूप कार्य भी होता है। इसी प्रकार एकपृथक्त्व भी समझो ॥ ७ ॥ तथा—

२९२—एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ॥ ८ ॥

(एतद्) यही नियम (अनित्ययोः) अनित्य एकत्व और एकपृथक्त्व में (व्याख्यानम्) व्याख्यात समझो ॥

नित्य द्रव्य में एकत्व और एकपृथक्त्व भी नित्य होते हैं और अनित्य द्रव्य में अनित्य होते हैं ॥ ८ ॥

२९३-अन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः ॥ ९ ॥

अब संयोग की परीक्षा करते हैं जो क्रमप्राप्त है-(अन्यतरकर्मजः) दो में से किसी एक के कर्म से उत्पन्न होने वाला (उभयकर्मजः) दोनों के कर्म से उत्पन्न होने वाला (च) और (संयोगजः) संयोग से उत्पन्न होने वाला (संयोगः) संयोग होता है ॥

भिन्न २ दो पदार्थों का परस्पर मिलजाना=संयोग कहाता है। वह संयोग तीन प्रकार का होता है। जैसे:-

१-दो पदार्थों में से एक में क्रिया होवे तो एक की क्रिया से दूसरे के साथ संयोग हो जायगा ॥

२-दोनों पदार्थों में क्रिया होने से दोनों का आपस में संयोग हो जायगा॥

३-संयोग से भी संयोग उत्पन्न होता है। जैसे वृक्ष और अङ्गुली के संयोग में अङ्गुली की क्रिया कारण है, परन्तु साथ ही अङ्गुली और हाथ का संयोग भी वृक्ष और हाथ के संयोग का कारण है ॥ ९ ॥

२९४-एतेन विभागोव्याख्यातः ॥ १० ॥

(एतेन) इस संयोग के व्याख्यान से (विभागः) विभाग का भी (व्याख्यातः) व्याख्यान होगया ॥

अर्थात् जैसे संयोग तीन प्रकार का है, ऐसे ही विभाग भी तीन प्रकार का समझो ॥

१-संयुक्त दो पदार्थों में से किसी एक की क्रिया से विभाग होजाता है॥

२-कभी दोनों की क्रिया से विभाग हो जाता है ॥

३-और कभी विभाग से भी विभाग हो जाता है ॥ १० ॥

२९५-संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावो ऽणुत्व महत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ ११ ॥

(संयोगविभागयोः) संयोग और विभाग के (संयोगविभागाभावः) संयोग और विभाग का अभाव (अणुत्वमहत्त्वाभ्याम्) अणुत्व और महत्त्व के साथ (व्याख्यातः) व्याख्यात होचुका ॥

अर्थात् जैसे अणुत्व में अणुत्व और महत्त्व में महत्त्व न होना कहागया था, ऐसे ही संयोग में संयोग और विभाग में विभाग नहीं होता समझो ॥११॥

१९६—कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा अणुत्वमहत्त्वाभ्यामिति ॥ १२ ॥

(इति) ऐसा पूर्व कहा गया है कि (कर्मभिः कर्माणि) कर्मों के साथ कर्म (च) और (गुणैःगुणाः) गुणों के साथ गुण (अणुत्वमहत्त्वाभ्याम्) अणुत्व और महत्त्व से व्याख्यान समझो ॥

अध्याय ७ आन्हिक १ सूत्र १४ से १६ तक तीन सूत्रों में जिस का विस्तार से व्याख्यान करचुके हैं, उस बात को सूत्रकार इस सूत्र में स्मरण कराते हैं ॥१२॥

१९७—युतसिद्ध्यभावात्कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते ॥ १३ ॥

(युतसिद्ध्यभावात्) जुदा हुआ होना सिद्ध न होने से (कार्यकारणयोः) कार्य और कारण में (संयोगविभागौ) संयोग और विभाग (न) नहीं (विद्येते) होते ॥

कारण मृत्तिका में कार्य घट जुदा हुआ सिद्ध नहीं होसकता । इस लिये घट और मृत्तिका में जो कि कार्य और कारण हैं, संयोग और विभाग नहीं मान सकते ॥ १३ ॥

१९८—गुणत्वात् ॥ १४ ॥

(गुणत्वात्) गुण होने से [द्रव्य और गुण में संयोग और विभाग नहीं मान सकते] ॥ १४ ॥

१९९—गुणोऽपि विभाव्यते ॥ १५ ॥

(गुणः) गुण (अपि) भी (विभाव्यते) [शब्द से] प्रतिपादन किया जाता है ॥

जिस प्रकार घट पट आदि शब्दों से उन के अर्थों का ग्रहण होता है, जो द्रव्य हैं; इसी प्रकार गुणवाचक शब्दों से गुणों का भी ग्रहण होता है ।

जैसे रूप, रस, गन्ध आदि शब्दों से रूप रस आदि गुणों का ग्रहण किया जाता है। इस कारण शब्द और अर्थ में भी संयोग सम्बन्ध नहीं है ॥१५॥ क्योंकि–

३००–निष्क्रियत्वात् ॥ १६ ॥

(निष्क्रियत्वात्) क्रियारहित होने से [शब्द का अर्थ के साथ संयोग संबन्ध नहीं है, क्योंकि संयोग तो क्रिया से उत्पन्न होता है] ॥ १६ ॥ और–

३०१–असति नास्तीति च प्रयोगात् ॥ १७ ॥

(असति) असत् पदार्थ में (च) भी (न अस्ति) "नहीं है" (इति) ऐसा (प्रयोगात्) प्रयोग होने से ॥

जो पदार्थ अब नहीं है परन्तु आगे होगा, उस वर्त्तमान में असत् और भविष्यत में होने वाले पदार्थ का बोध भी शब्द से किया जाता है। यदि शब्द का अर्थ के साथ संयोग सम्बन्ध होता तो भविष्यत् में होने वाले पदार्थ का वर्त्तमान शब्द से बोध न होता क्योंकि दोनों भिन्नकालीन हैं। जैसे जो घड़ा कल बनाया जायगा और आज वह घड़ा नहीं है तो भी कल को बनने वाले घड़े का बोध आज के उच्चारण किये हुए घट शब्द से होता है। कल को होने वाले घट द्रव्य का बोध न होता, यदि शब्द और अर्थ में संयोग सम्बन्ध होता ॥ १७ ॥ इस से सिद्ध हुवा कि–

३०२–शब्दार्थावसम्बन्धौ ॥ १८ ॥

(शब्दार्थौ) शब्द और अर्थ (असम्बन्धौ) परस्पर संयोग सम्बन्ध-रहित हैं ॥ १८ ॥

यदि कहो कि शब्द और अर्थ में संयोग सम्बन्ध न सही किन्तु समवाय सम्बन्ध तो मान सकते हैं? तो उत्तर–

३०३–संयोगिनोदण्डात्, समवायिनोविशेषाच्च ॥ १९ ॥

(संयोगिनः) संयोगी पुरुष का (दण्डात्) दण्ड से (च) और (समवायिनः) समवाय सम्बन्ध वाले का (विशेषात्) विशेष अवयव से [जैसे ग्रहण होता है वैसे अर्थ का ग्रहण शब्द से नहीं होता] ॥

यदि अर्थ के साथ शब्द का संयोगसम्बन्ध अथवा समवायसम्बन्ध होता तो अर्थ के साथ शब्द भी प्रतीत हुवा करता। परन्तु ऐसा नहीं होता। इस से जाना जाता है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं है। जैसे हाथी

का सूंड के साथ अवयव विशेष से सम्बन्ध है और दण्डी पुरुष का दण्ड के साथ संयोग सम्बन्ध है, तब दण्डी पुरुष के साथ २ दण्ड का और हाथी के साथ २ उस की सूंड का ग्रहण होता है, परन्तु घटदर्शन के साथ २ घट शब्द का दर्शन नहीं होता। इस लिये शब्द और अर्थ में न तो संयोग सम्बन्ध है, न समवाय सम्बन्ध है ॥ १९ ॥

प्रश्न—यदि शब्द और अर्थ में दोनों प्रकार का सम्बन्ध नहीं तो शब्द से अर्थ का बोध क्यों होता है ? उत्तर—

३०४—सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः ॥ २० ॥

(शब्दात्) शब्द से (अर्थप्रत्ययः) अर्थ की प्रतीति (सामयिकः) सांकेतिक है ॥

अर्थात् आप्त पुरुषों ने जिस शब्द से जिस अर्थ का ग्रहण करना नियत कर लिया, उसी शब्द से उस अर्थ का ग्रहण होने लगा है। जैसे फारस देश के लोग माहताब शब्द से चन्द्रलोक का ग्रहण करते हैं और अंग्रेज़ लोग मून शब्द से चन्द्रलोक का ग्रहण करते हैं और आर्य लोग शशी, चन्द्र, कलानिधि, मृगाङ्क, चन्द्रमा इत्यादि शब्दों से चन्द्रलोक का ग्रहण करते हैं। अस जब एक भाषा बोलने वाले अथवा अनेक भाषा बोलने वाले एक शब्द से अनेक अर्थों का और अनेक शब्दों से एक अर्थ का ग्रहण कर लेते हैं तब किसी शब्द का किसी अर्थ के साथ संयोग वा समवाय सम्बन्ध तो नहीं रहा किन्तु केवल सांकेतिक सम्बन्ध है ॥ २० ॥

३०५—एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्ट विप्रकृष्टाभ्यां परमपरञ्च ॥ २१ ॥

(एकदिक्काभ्याम्) एक ही दिशा में रहने वाले (एककालाभ्याम्) एक ही काल में रहने वाले (सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्याम्) समीप और दूर से (परम्) परत्व (च) और (अपरत्वम्) अपरत्व होता है ॥

यहां से क्रमागत परत्व और अपरत्व की परीक्षा करते हैं किसी एक दिशा में समीप पदार्थ को पर कहते हैं और उस की अपेक्षा उसी दिशा में दूरस्थ पदार्थ को अपर कहते हैं। यह देशकृत परत्वापरत्व हुआ। दूसरा कालकृत परत्वापरत्व वह है, जो समय के समीप और दूर होने से होता है॥२१॥

३०६–कारणपरत्वात्कारणापरत्वाच्च ॥ २२ ॥

(कारणपरत्वात्) कारण के समीप होने से परत्व (च) और (कारणाऽपरत्वात्) कारण के दूर होने से अपरत्व होता है ॥

अर्थात् देश और काल की समीपता परत्व का कारण है तथा उन की ही दूरस्थता अपरत्व का कारण है ॥ २२ ॥

३०७–परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्व महत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ २३ ॥

(परत्वापरत्वयोः) परत्व और अपरत्व का (परत्वापरत्वाभावः) दूसरा परत्व और अपरत्व न होना (अणुत्वमहत्वाभ्याम्) अणुत्व और महत्त्व के साथ (व्याख्यातः) व्याख्यान किया गया समझना चाहिये ॥

२७३ वें सूत्र में कह चुके हैं कि अणुत्व का अणुत्व और महत्त्व का महत्त्व नहीं होता । इसी प्रकार समझना चाहिये कि परत्व का परत्व और अपरत्व का अपरत्व भी नहीं होता ॥ २३ ॥

३०८–कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणाः ॥ २४ ॥

(कर्मभिः) कर्मों से (कर्माणि) कर्म, (गुणैः) गुणों से (गुणाः) गुण [कहे जा चुके हैं] ॥

अर्थात् २७४ और २७५ वें सूत्रों के अनुसार कर्मों से कर्म और गुणों से गुण की व्याख्या हो चुकी है ॥ २४ ॥

प्रश्न-समवाय क्या पदार्थ है ? उत्तर–

३०९–इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ॥ २५ ॥

(यतः) जिस से (कार्यकारणयोः) कार्य और कारण में (इति) यह व्यवहार होता है कि (इह-इदम्) इस में यह है (सः) वह (समवायः) समवाय कहाता है ॥

जैसे मृत्तिकारूप कारण में घटरूप कार्य अथवा घटरूप कार्य में मृत्तिका रूप कारण जिस सम्बन्ध से वर्त्तमान हैं, उस सम्बन्ध को समवाय कहते हैं ॥२५॥

प्रश्न-तो समवाय को भिन्न पदार्थ क्यों माना जावे ? द्रव्य और गुण में ही किसी एक को समवाय क्यों न समझलें ? उत्तर–

३१०-द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः ॥ २६ ॥

(द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधः) द्रव्यत्व और गुणत्व का प्रतिषेध (भावेन) भाव के साथ (व्याख्यातः) व्याख्यात हो चुका ॥

अर्थात् ३९ और ४० वें सूत्रों में जिस प्रकार सत्ता को गुण और कर्म से भिन्न सिद्ध कर आये हैं, इसी प्रकार यहां भी समवाय को द्रव्य और गुण से भिन्न समझना चाहिये ॥ २६ ॥

प्रश्न-तो क्या समवाय में केवल द्रव्यत्व और गुणत्व का निषेध ही सत्ता के साथ कहा गया ? अन्य कुछ नहीं ? उत्तर-

३११-तत्त्वञ्च ॥ २७ ॥

(तत्त्वम्) एकत्व और नित्यत्व (च) भी [कहा गया है] ॥

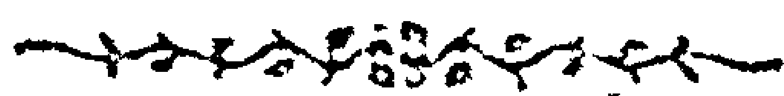
अर्थात् जिस प्रकार सत्ता एक और नित्य है, इसी प्रकार समवाय भी एक और नित्य है ॥ २७ ॥

इस आन्हिक में संख्यादि ५ गुणों और समवाय सम्बन्ध की तथा शब्द और अर्थ में क्या सम्बन्ध है, इस की परीक्षा की गयी ॥

इति सप्तमाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम्

॥ २ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते वैशेषिकदर्शनभाषानुवादे गुणसमवायाध्यायः सप्तमः ॥ ७ ॥



ओ३म्

अथाष्टमोऽध्यायः

तत्र

प्रथममाह्निकम्

परत्व और अपरत्व की परीक्षा हो चुकी, आगे क्रमानुसार बुद्धि की परीक्षा करनी है। प्रत्यक्षादि भेद से बुद्धियें बहुत हैं, ज्ञान भी बुद्धि ही का नाम है, इस लिये प्रथम प्रत्यक्ष ज्ञान की परीक्षा का उपक्रम करते हैं—

३१२–द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ १ ॥

(द्रव्येषु) पृथिव्यादि द्रव्यों के विषय में (ज्ञानम्) ज्ञान की (व्याख्यातम्) व्याख्या हो चुकी ॥

अध्याय ४ आह्निक १ सूत्र ६ में कह चुके हैं कि "महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद्रूपाच्चोपलब्धिः" इस सूत्र में द्रव्यविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान की व्याख्या की गई थी, जिस को वहीं १६३ में देख लीजिये ॥ १ ॥ परन्तु–

३१३–तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ॥ २ ॥

(तत्र) उन पृथिव्यादि द्रव्यों में (आत्मा) जीवात्मा और परमात्मा (च) और (मनः) मन (अप्रत्यक्षे) प्रत्यक्ष नहीं हैं ॥

प्रायः सभी टीकाकार इस सूत्र के (च) शब्द से वायु, आकाश, काल, दिशा और परमाणुओं का ग्रहण करते हैं। तब इस सूत्र का यह अर्थ होता है कि "उन में से आत्मा, मन, वायु, आकाश, काल, दिशा और परमाणु प्रत्यक्ष नहीं हैं", शेष पृथिवी जल अग्नि प्रत्यक्ष हैं ॥ २ ॥

प्रश्न–प्रत्यक्ष ज्ञान की विधि बतलाओ? उत्तर–

३१४–ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः ॥ ३ ॥

(ज्ञाननिर्देशे) जहां ज्ञान का निर्देश किया है वहां (ज्ञाननिष्पत्तिविधिः) ज्ञान प्राप्त होने की रीति (उक्तः) बतलाई जा चुकी है ॥

१३५ में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति कह चुके हैं, वहीं देख लीजिये ॥ ३ ॥

प्रश्न-जहां ज्ञान का निर्देश किया है वहां सामान्य में ज्ञानप्राप्ति की रीति कही गई थी, कृपा करके सविशेष वर्णन कीजिये ? उत्तर-

३१५-गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यं कारणम् ॥ ४ ॥

(सन्निकृष्टेषु) इन्द्रियों के समीप आये हुये (गुणकर्मसु) गुणों और कर्मों में (ज्ञाननिष्पत्तेः) ज्ञान सिद्ध होने से (द्रव्यम्) द्रव्य (कारणम्) ज्ञान का कारण है ॥

यह रूप है, इत्यादि गुणों के प्रत्यक्ष में और यह उछलना है, इत्यादि कर्मों के प्रत्यक्ष में द्रव्य ही कारण है, क्योंकि द्रव्यों के आश्रय में ही रूपादि गुण और उछलना आदि कर्म प्रत्यक्ष होते हैं ॥ ४ ॥ और-

३१६-सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषा-
ऽभावात्तत एव ज्ञानम् ॥ ५ ॥

(सामान्यविशेषेषु) सामान्य और विशेषों में (सामान्यविशेषाऽभावात्) दूसरा सामान्य और दूसरा विशेष न होने से (ततः) उन से (एव) ही (ज्ञानम्) ज्ञान होता है ॥

सामान्य सत्ता (होना) और उन के विशेष-द्रव्य होना, गुण होना, कर्म होना, पृथिवी होना, रूप होना, उछाल होना; इत्यादिकों में उन के प्रत्यक्ष का कारण वे स्वयम् ही हैं अर्थात् उन की सत्ता का ज्ञान साक्षात् उन्हीं से होता है ॥ ५ ॥

प्रश्न-किस की अपेक्षा से द्रव्यगुणकर्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है ? उत्तर-

३१७-सामान्यविशेषापेक्षं द्रव्यगुणकर्मसु ॥ ६ ॥

(द्रव्यगुणकर्मसु द्रव्यों,गुणों और कर्मों के विषय में (सामान्यविशेषापेक्षम्) सामान्य विशेष की अपेक्षा से [ज्ञान उत्पन्न होता है] ॥

अर्थात् यह अमुक द्रव्य है, यह अमुक गुण है और यह अमुक कर्म है, ऐसा विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥ उस में भी-

३१८-द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ॥ ७ ॥

(द्रव्ये) द्रव्य विषय में (द्रव्यगुणकर्मापेक्षम्) द्रव्य गुण और कर्म की अपेक्षा वाला [ज्ञान उत्पन्न होता है] ॥ ७ ॥ परन्तु-

२१९–गुणकर्मसु गुणकर्माऽभावाद्गुणकर्मापेक्षं न विद्यते ॥८॥

(गुणकर्मसु) गुणों और कर्मों में (गुणकर्माऽभावात्) दूसरे गुण कर्म न होने से (गुणकर्मापेक्षम्) गुणों और कर्मों की अपेक्षा वाला [ज्ञान] (न) नहीं (विद्यते) होता है ॥ ८ ॥ उदाहरण–

२२०–समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेश्च श्वेते
बुद्धिः, ते एते कार्यकारणभूते ॥ ९ ॥

(समवायिनः) समवायी द्रव्य के (श्वैत्यात्) श्वेत होने से (च) और (श्वैत्यबुद्धेः) श्वेतत्व के ज्ञान से (श्वेते) श्वेत द्रव्य में (बुद्धिः) ज्ञान उत्पन्न होता है, (ते) वे दोनों (एते) ये (कार्यकारणभूते) कार्यरूप और कारणरूप ज्ञान हैं ॥

अर्थात् चांदी वा शङ्ख आदि द्रव्य जो श्वेतता गुण से समवाय संबन्ध रखते हैं, द्रव्यों के श्वेत होने से और श्वेतता के ज्ञान से उन श्वेत द्रव्यों में यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि, यह श्वेत चांदी है अथवा यह श्वेत शङ्ख है। और ये दोनों ज्ञान १–श्वेतता का ज्ञान और २–श्वेत चांदी आदि का ज्ञान कार्यरूप और कारणरूप हैं अर्थात् श्वेतता (सफ़ेदी) कारणज्ञान है और श्वेतशङ्खादि का ज्ञान कार्यज्ञान है ॥ ९ ॥ परन्तु–

२२१–द्रव्येष्वनितरेतरकारणाः ॥ १० ॥

(द्रव्येषु) अनेक द्रव्यों में [जो अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हैं वे] (अनितरेतरकारणाः) एक दूसरे के कारण नहीं होते ॥ १० ॥ क्योंकि–

२२२–कारणाऽयौगपद्यात्कारणक्रमाच्च
घटपटादिबुद्धीनां क्रमो, न हेतुफलभावात् ॥११॥

(कारणाऽयौगपद्यात्) ज्ञान के कारण एक साथ उत्पन्न न होने से (च) और (कारणक्रमात्) कारणों के क्रम से (घटपटादिबुद्धीनाम्) घट पट आदि ज्ञानों में (क्रमः) आगापीछा है। (न) न कि (हेतुफलभावात्) कारण का फल होने से ॥

अर्थात् यदि हम को प्रथम घट का ज्ञान हो, पश्चात् पट का ज्ञान हो, तो ये दोनों ज्ञान एक दूसरे के कार्यकारण नहीं हैं, किन्तु ज्ञान के कारण ही

भिन्न २ एक दूसरे के पश्चात् होते हैं, इस लिये ज्ञान भी एक दूसरे के पश्चात् होते हैं, न कि एक कारण और दूसरा उन का कार्य होने से ॥ ११ ॥

इस आन्हिक में द्रव्य गुण कर्म और सामान्य में जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह परीक्षापूर्वक वर्णन किया गया ॥

इत्यष्टमाध्यायस्य प्रथमान्हिकम्

॥ १ ॥

अथ द्वितीयमान्हिकम्

अब ज्ञान के प्रकार का उदाहरण देते हैं—

३२३—अयमेष त्वया कृतं भोजयैनमिति बुद्ध्यपेक्षम् ॥ १ ॥

(अयम्) यह है, (एषः) वह है, (त्वया कृतम्) तूने कर्म किया, (एनं भोजय) इस को भोजन कराओ (इति) इस प्रकार का ज्ञान (बुद्ध्यपेक्षम्) भिन्न २ बुद्धियों से होता है ॥ १ ॥

प्रश्न—यह है, तूने कर्म किया, इस को भोजन कराओ, इत्यादि समक्षवर्ती पदार्थों में तो प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है परन्तु "वह वहां है" इत्यादि परोक्षवर्ती पदार्थों में प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे हो सकता है ? उत्तर—

३२४—दृष्टेषु भावाददृष्टेष्वभावात् ॥ २ ॥

(दृष्टेषु) जाने हुए विषयों में [भावात) होने से (अदृष्टेषु) विना जाने विषयों में (अभावात्) न होने से ॥

अर्थात् हम जिन परोक्ष विषयों का निर्देश करते हैं कि वह वहां है, इत्यादि । सो पहिले देखे, जाने, विषयों में निर्देश करते हैं, इस लिये परोक्ष विषयों में भी "वह वहां है" इत्यादि निर्देश प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक ही समझना चाहिये, क्योंकि अदृष्ट अर्थात् जिन के साथ हमारी ज्ञानेन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं हुवा, उन को हम यह, वह, इत्यादि प्रकार से व्यवहार नहीं करते ॥ २ ॥

प्रश्न-तुम "अर्थ" शब्द से किस का ग्रहण करते हो ? उत्तर—

३२५—अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु ॥ ३ ॥

(द्रव्यगुणकर्मसु) द्रव्यों, गुणों और कर्मों में (अर्थः) "अर्थ" (इति) ऐसा व्यवहार करते हैं ॥ ३ ॥

३२६—द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वम् ॥ ४ ॥

(द्रव्येषु) कार्य द्रव्यों में (पञ्चात्मकत्वम्) पञ्चात्तत्वात्मक होना [कहा गया है] ॥

यद्यपि १३२ और १३४ में पञ्चात्मक और त्र्यात्मक का निषेध कर चुके हैं परन्तु १३५ में कह चुके हैं कि "अणुसंयोग का निषेध नहीं है" इस लिये यहां पञ्चात्मकता कहना पूर्वापर विरुद्ध नहीं है ॥ ४ ॥ जैसे-

३२७—भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः ॥५॥

(भूयस्त्वात्) बहुत होने से (च) और (गन्धवत्त्वात्) गन्धवती होने से (पृथिवी) पृथिवीतत्व (गन्धज्ञाने) गन्ध के ज्ञान कराने वाले नासिका इन्द्रिय में (प्रकृतिः) उपादान कारण है ॥ ५ ॥ तथा-

३२८—तथापस्तेजोवायुश्च रसरूपस्पर्शज्ञानेऽविशेषात् ॥ ६ ॥

(तथा) इसी प्रकार (अविशेषात्) समान होने से (रस, रूप, स्पर्श, ज्ञाने) रस, रूप, और स्पर्श के ज्ञान कराने वाले रसना, चक्षु और त्वचा इन्द्रियों में [क्रम से] (आपः) जलतत्व, (तेजः) अग्नितत्व (च) और (वायुः) वायुतत्व [उपादान कारण हैं] ॥

जिस प्रकार नासिका इन्द्रिय में पृथिवी उपादान कारण है, इसी प्रकार रसना इन्द्रिय में जल, चक्षु इन्द्रिय में अग्नि और त्वचा इन्द्रिय में वायु उपादान कारण हैं ॥ ६ ॥

इस द्वितीय आन्हिक में ज्ञान, ज्ञान का प्रकार, इन्द्रियों के कारण और "अर्थ" शब्द का अर्थ वर्णन किया गया ॥

इति अष्टमाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम्

॥ २ ॥

इति श्री तुलसीराम स्वामिकृते,

वैशेषिकदर्शनभाषानुवादे ज्ञानाऽध्यायोऽष्टमः

॥ ८ ॥



ओ३म्

अथ नवमोऽध्यायः

तत्र

प्रथममाह्निकम्

प्रश्न-ये पृथिवी आदि कार्य द्रव्य उत्पत्ति से पूर्व सत् थे या असत् ? उत्तर-

३२९-क्रियागुणव्यपदेशाऽभावात् प्रागऽसत् ॥ १ ॥

(क्रियागुणाव्यपदेशाऽभावात्) क्रिया और गुण का व्यवहार न पाया जाने से (प्राक्) उत्पत्ति से पूर्व (असत्) अभावरूप थे ॥

यदि कार्य द्रव्य उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान होता तो कोई क्रिया और कोई गुण उस का पाया जाता, नहीं पाया जाता, इस लिये प्रागऽभाव मानना ठीक है ॥ १ ॥

प्रश्न-यदि कार्य पदार्थ उत्पत्ति से पूर्व सत् नहीं था तो कारण की क्रिया से उत्पन्न कैसे हो सकेगा ? क्योंकि हम देखते हैं कि तिलों में तेल है, इस लिये उन से उत्पन्न होता है तथा वालू में तेल नहीं है, इस लिये उस से उत्पन्न नहीं होता ? उत्तर-

३३०-सदऽसत् ॥ २ ॥

(सत्) कारणरूप से भाव और (असत्) कार्यरूप से अभाव [उत्पत्ति के पूर्व होता है ॥ २ ॥

प्रश्न-यदि प्रत्येक कार्य उत्पत्ति से पूर्व कारणरूप में वर्त्तमान था तो उस की उत्पत्ति मानने का क्या लाभ है ? उत्तर-

३३१-असतः क्रियागुणव्यपदेशाऽभावादर्थान्तरम् ॥ ३ ॥

(असतः) असत् के (क्रियागुणाव्यपदेशाऽभावात्) क्रिया और गुणों का व्यवहार न पाये जाने से [सत् पदार्थ] (अर्थान्तरम्) अन्य पदार्थ है ॥

अर्थात् सत् असत् एक नहीं होसक्ते, असत् कार्य विषय में कोई क्रिया वा कोई गुण नहीं कहा देखा माना जाता और सत्कार्य में क्रिया और गुण

देखे गये और नाश हो जाते हैं। इस लिये असत्(उत्पत्ति से पूर्व)की अपेक्षा सत्=उत्पन्न हुआ कार्य पदार्थ भिन्न है ॥ ३ ॥

३३२—सच्चाऽसत् ॥ ४ ॥

(सत्) होता हुआ [भी कार्य पदार्थ] (च) फिर=नाश के पश्चात् (असत्) सत् नहीं रहता ॥ ४ ॥

३३३—यच्चाऽन्यदऽसदतस्तदऽसत् ॥ ५ ॥

(च) और (यत्) जो पदार्थ (अतः) इस पूर्वोक्त सदऽसत् उभय-भिन्न से (अन्यत्) विलक्षण=जो तीनों काल में (असत्) न होवे, वह (असत्) केवल असत् है ॥

अर्थात् जो पदार्थ उत्पन्न होने से पूर्व असत् और उत्पन्न होकर सत् हैं, वे तो 'सदऽसत्' कहाते हैं और जो कभी भी सत्तात्मक नहीं, वे असत् हैं॥५॥

३३४—असदिति भूतप्रत्यक्षाऽभावाद्
भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत् ॥६॥

(असत्) अब नहीं है (इति) ऐसा जो ज्ञान है, वह (भूतप्रत्यक्षा-ऽभावात्) हुये पदार्थ का प्रत्यक्ष न होने से [परन्तु](भूतस्मृतेः) हुवे पदार्थ की स्मृति बनी रहने से (विरोधिप्रत्यक्षवत्) विरोधिप्रत्यक्ष के समान है ॥

जैसे असत् के विरोधी सत् का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही जो होकर फिर न रहे, उस के न रहने पर प्रत्यक्ष न होने पर भी, होते हुवे समय की स्मृति बनी रहने से ज्ञान रहता है ॥ ६ ॥

३३५—तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ॥ ७ ॥

(तथा) इसी प्रकार (अभावे) अभाव=असत् में (च) भी (भाव-प्रत्यक्षत्वात्) सत् के प्रत्यक्ष होने से [ज्ञान होता है] ॥

अर्थात् मृत्तिका से घट बना, फिर फूट टूट कर मृत्तिका होगया, तब टूट जाने और अपने कारण में लीन होजाने (अभाव होजाने) पर भाव (मृत्तिका) के प्रत्यक्ष होने से भी पूर्वप्रत्यक्षीकृत घट का ज्ञान होता है ॥७॥

३३६—एतेनाऽघटोऽगौरऽधर्मश्च व्याख्याताः ॥ ८ ॥

(एतेन) इस से (अघटः) घट का अभाव=अघट, (अगौः) गौ का अभाव=अगौ (च) और (अधर्मः) धर्म का विरोधी=अधर्म (व्याख्यातः) व्याख्यान किया गया ॥ ८ ॥ परिभाषा-

३३७-अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ॥ ९ ॥

(अभूतम्) नहीं हुवा है, (न अस्ति) नहीं है, (इति) ये दोनों (अनर्थान्तरम्) एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं=एक ही बात हैं ॥

अर्थात् अभूत और नास्ति दोनों एकार्थी हैं ॥ ९ ॥ जैसे-

३३८-नास्ति घटोगेह इति, सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः ॥ १० ॥

(गेहे) घर में (घटः) घट (न अस्ति) नहीं है (इति) इस कथन में (सतः) होते हुवे (घटस्य) घड़े का (गेहसंसर्गप्रतिषेधः) घर में संसर्ग न होना अभिप्राय है ॥ १० ॥ यहां तक बाह्येन्द्रियप्रत्यक्ष की परीक्षा कही, आगे मानसिक प्रत्यक्ष का वर्णन करते हैं:-

३३९-आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् ॥ ११ ॥

(आत्मनि) जीवात्मा में (आत्ममनसोः) जीवात्मा और मन के (संयोगविशेषात्) योग की विधि से विशेष संयोग होने से (आत्मप्रत्यक्षम्) आत्मा=अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष होता है ॥ ११ ॥

३४०-तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ॥ १२ ॥

(तथा) इसी प्रकार (द्रव्यान्तरेषु) अन्य सूक्ष्म प्रकृतिपर्यन्त द्रव्यों में (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष=अपरोक्ष ज्ञान होता है ॥ १२ ॥

प्रश्न-योगी दो प्रकार के हैं-१-जो सदा समाधि लगाये रहैं, २- जो कभी २ समाधि लगावें, इन दोनों में किस को अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष होता है ? उत्तर-

३४१-असमाहितान्तःकरणा उपसंहृतसमाधयस्तेषां च ॥ १३ ॥

जो (असमाहितान्तःकरणाः) सदा अन्तःकरण का समाधान नहीं करते=कभी २ करते हैं (च) और (उपसंहृतसमाधयः) समाधि का उपसंहार=अन्त कर चुके हैं (तेषाम्) उन को [आत्मा का प्रत्यक्ष होता है] ॥ १३ ॥

३४२—तत्समवायात्कर्मगुणेषु ॥ १४ ॥

(तत्समवायात्) [जिन सूक्ष्मद्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है] उन के समवायसम्बन्ध से (कर्मगुणेषु) [उन २ द्रव्यों के] कर्मों और गुणों में [भी प्रत्यक्ष हो जाता है] ॥ १४ ॥

३४३—आत्मसमवायादात्मगुणेषु ॥ १५ ॥

(आत्मसमवायात्) जीवात्मा के साथ समवाय सम्बन्ध से (आत्मगुणेषु) आत्मा के [चैतन्यत्वादि वा सुखदुःखादि] गुणों का [प्रत्यक्ष होजाता है]॥

केवल जीवात्मा का यद्यपि सुखदुःखादि से समवाय सम्बन्ध वा नित्य-सम्बन्ध नहीं है, परन्तु मनसहित आत्मा के लिये यहां आत्मा शब्द का व्यवहार समझो, अथवा आत्मा के गुणों में सुखदुःखादि का ग्रहण न करके, केवल चैतन्यता का ग्रहण करके बहुवचन को अविवक्षित जानो ॥ १५ ॥

यहां से पूर्व कार्य का असत् होना, प्रत्यक्ष होना, और योगियों का प्रत्यक्ष, इस आह्निक में वर्णन किया गया ॥

इति नवमाऽध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ॥ १ ॥

—०:*:०—

अथ द्वितीयमाह्निकम्

प्रत्यक्ष की परीक्षा कह कर अब आगे लिङ्गज्ञान की परीक्षा का आरम्भ करते हैं:-

३४४—अस्येदं कार्यं, कारणं, संयोगि, विरोधि, समवायि, चेति लैङ्गिकम् ॥ १ ॥

(अस्य) इस का (इदम्) यह (कार्यं) कार्य है, (कारणम्) कारण है, (संयोगि) संयोगी है, (विरोधी) विरोधी है (च) और (समवायि) अनुमान निकालने वाला है (इति) इस को (लैङ्गिकम्) लिङ्गोत्पन्न ज्ञान कहते हैं ॥

अर्थात् कार्य को देखकर कारण का, कारण को देखकर कार्य का, संयोग को देखकर संयोगी का, विरोध को देखकर विरोधी का और समवाय को देख कर समवायी का ज्ञान होता है, उस को लैङ्गिक=आनुमानिक ज्ञान कहते हैं ॥ १ ॥

३४५-अस्येदं, कार्यकारणसम्बन्धश्चाऽवयवाद्भवति ॥ २ ॥

(अस्य) इस लिङ्गी का (इदम्) यह लिङ्ग है, (च) और (कार्यकारणसम्बन्धः) कार्यकारणसम्बन्ध है, [यह ज्ञान] (अवयवात्) उदाहरण रूप एक देश से (भवति) होता है ॥ २ ॥

३४६-एतेन शाब्दं व्याख्यातम् ॥ ३ ॥

(एतेन) इस व्याख्यान से (शाब्दम्) शाब्दज्ञान भी (व्याख्यातम्) व्याख्यात होगया ॥

जिस प्रकार लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धज्ञानपूर्वक लिङ्गज्ञानोत्पन्न लैङ्गिक ज्ञान की व्याख्या की गई है, इसी प्रकार शब्द और उस के अर्थ तथा सम्बन्ध के ज्ञानपूर्वक-शब्द ज्ञान से उत्पद्यमान=शाब्द ज्ञान का भी व्याख्यान समझ लेना चाहिये ॥ ३ ॥

३४७-हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ॥ ४ ॥

(हेतुः) हेतु, (अपदेशः) अपदेश, (लिङ्गं) लिङ्ग, (प्रमाणं) प्रमाण और (करणं) करण (इति) ये (अनर्थान्तरं) एकार्थक हैं ॥

हेत्वादि शब्द इस शास्त्र में एकार्थक हैं ॥ ४ ॥

३४८-अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात् ॥ ५ ॥

(अस्य) इस लिङ्गी वा इस कार्य का (इदं) यह लिङ्ग वा कारण है, (इति) यह बात (बुद्ध्यपेक्षितत्वात्) बुद्धि की अपेक्षाकृत होने से [हेतु आदि एकार्थक हैं] ॥ ५ ॥

प्रत्यक्षज्ञान, लिङ्ग=अनुमान से ज्ञान और आप्तोपदिष्ट शब्द से ज्ञान, यह ३ प्रकार का ज्ञान परीक्षापूर्वक बताया गया, आगे स्मृतिज्ञान की परीक्षा करते हैंः-

३४९-आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ॥६॥

(आत्ममनसोः) आत्मा और मन के (संयोगविशेषात्) विशेष संयोग से (च) और (संस्कारात्) संस्कार से (स्मृतिः) स्मरण=ज्ञान होता है ॥६॥

३५०-तथा स्वप्नः ॥ ७ ॥

(तथा) इसी प्रकार=आत्मा और मन के संयोग विशेष तथा संस्कार से (स्वप्नः) स्वप्नज्ञान होता है ॥ ७ ॥

३५१-स्वप्नान्तिकम् ॥ ८ ॥

(स्वप्नान्तिकम्) स्वप्नाऽवस्थाविषयक अन्य स्वप्नदृष्ट पदार्थों का ज्ञान [भी आत्मा और मन के विशेष संयोग और संस्कार से होता है] ॥ ८ ॥

प्रश्न स्मृतिज्ञान और स्वप्नज्ञान में भेद पाया जाता है, और कारण दोनों का एक है, अर्थात आत्मा और मन के संयोग विशेष से तथा संस्कार से स्मृति होती है, और इन्हीं कारणों से स्वप्न होता है, तब स्मृति और स्वप्न भी दो क्यों हैं, एक ही क्यों नहीं ? उत्तर-

३५२-धर्माच्च ॥ ९ ॥

(धर्मात्) धर्म से (च) भी [स्वप्नज्ञान होता है] ॥

धर्म शब्द से शारीरिक धातु विकारादि विवक्षित हैं। कामी पुरुष सोता है, तब स्वप्न में भी संस्कारवश वैसा देखता है, परन्तु बहुत से ऐसे स्वप्न भी होते हैं कि जिन का तात्कालिक संस्कार नहीं होता। जैसे अपना आकाश में उड़ना, अग्नि में प्रवेश करना, सुवर्ण, पर्वत, उदय होते सूर्य का दीखना, नदी समुद्र तड़ागादि का तिरना, इत्यादि प्रकार के स्वप्न शरीर के धर्म=वातपित्तकफादि दोषों के प्राबल्य दौर्बल्य से होते हैं। इस लिये स्मृतिज्ञान के कारणों से स्वप्नज्ञान के कारण अन्य भी हैं, यही कारण है कि स्मृति तथा स्वप्न एक नहीं हो सकते ॥ ९ ॥

स्मृति की परीक्षा हो चुकी, अब अविद्या की परीक्षा करते हैं:-

३५३-इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाऽविद्या ॥ १० ॥

(इन्द्रियदोषात्) आंख कान आदि इन्द्रियों में कोई दोष होने से (च) और (संस्कारदोषात्) संस्काररूप दोष से [और धर्म अधर्म आदि से] (अविद्या) विपरीत ज्ञान होता है ॥ १० ॥

३५४-तद् दुष्टज्ञानम् ॥ ११ ॥

(तत्) वह=अविद्या (दुष्टज्ञानम्) दोषयुक्त ज्ञान है ॥ ११ ॥

३५५-अदुष्टं विद्या ॥ १२ ॥

(अदुष्टम्) निर्दोष ज्ञान (विद्या) विद्या कहाती है ॥ १२ ॥

३५६-आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः ॥ १३ ॥

३५१—स्वप्नान्तिकम् ॥ ८ ॥

(स्वप्नान्तिकम्) स्वप्नावस्थाविषयक अन्य स्वप्नदृष्ट पदार्थों का ज्ञान [भी आत्मा और मन के विशेष संयोग और संस्कार से होता है] ॥ ८ ॥

प्रश्न स्मृतिज्ञान और स्वप्नज्ञान में भेद पाया जाता है, और कारण दोनों का एक है, अर्थात आत्मा और मन के संयोग विशेष से तथा संस्कार से स्मृति होती है, और इन्हीं कारणों से स्वप्न होता है, तब स्मृति और स्वप्न भी दो क्यों हैं, एक ही क्यों नहीं? उत्तर—

३५२—धर्माच्च ॥ ९ ॥

(धर्मात्) धर्म से (च) भी [स्वप्नज्ञान होता है] ॥

धर्म शब्द से शारीरिक धातु विकारादि विवक्षित हैं। कामी पुरुष सोता है, तब स्वप्न में भी संस्कारवश वैसा देखता है, परन्तु बहुत से ऐसे स्वप्न भी होते हैं कि जिन का तात्कालिक संस्कार नहीं होता। जैसे अपना आकाश में उड़ना, अग्नि में प्रवेश करना, सुवर्ण, पर्वत, उदय होते सूर्य का दीखना, नदी समुद्र तड़ागादि का गिरना, इत्यादि प्रकार के स्वप्न शरीर के धर्म=वातपित्तकफादि दोषों के प्राबल्य दौर्बल्य से होते हैं। इस लिये स्मृतिज्ञान के कारणों से स्वप्नज्ञान के कारण अन्य भी हैं, यही कारण है कि स्मृति तथा स्वप्न एक नहीं हो सकते ॥ ९ ॥

स्मृति की परीक्षा हो चुकी, अब अविद्या की परीक्षा करते हैं:—

३५३—इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाऽविद्या ॥ १० ॥

(इन्द्रियदोषात्) आंख कान आदि इन्द्रियों में कोई दोष होने से (च) और (संस्कारदोषात्) संस्काररूप दोष से [और धर्म अधर्म आदि से] (अविद्या) विपरीत ज्ञान होता है ॥ १० ॥

३५४—तद् दुष्टज्ञानम् ॥ ११ ॥

(तत्) वह=अविद्या (दुष्टज्ञानम्) दोषयुक्त ज्ञान है ॥ ११ ॥

३५५—अदुष्टं विद्या ॥ १२ ॥

(अदुष्टम्) निर्दोष ज्ञान (विद्या) विद्या कहाती है ॥ १२ ॥

३५६—आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः ॥ १३ ॥

ओ३म्

अथ दशमोऽध्यायः

तत्र

प्रथममाह्निकम्

३५७—इष्टानिष्टकारणविशेषाद्विरोधाच्च मिथः सुखदुःखयोरर्थान्तरभावः ॥ १ ॥

(इष्टानिष्टकारणविशेषात्) इष्ट और अनिष्ट विशेष कारण से (च) और (मिथः) एक दूसरे के (विरोधात्) विरोध से [सिद्ध है कि] (सुखदुःखयोः) सुख और दुःख में (अर्थान्तरभावः) एक दूसरे से भिन्नता है ॥ १ ॥

३५८—संशयनिर्णयान्तराभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः ॥ २ ॥

(च) और (संशयनिर्णयान्तराभावः) संशय और निर्णय के बीच में कोई अन्य प्रमाण नहीं है, [सुख वा दुःख जिस से समझे जावें] यही (ज्ञानान्तरत्वे) सुख दुःख के भिन्न ज्ञान होने में (हेतुः) कारण है ॥ २ ॥

३५९—तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् ॥ ३ ॥

(तयोः) उन सुख दुःखों की (निष्पत्तिः) उत्पत्ति (प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम्) प्रत्यक्ष और अनुमान से होती है ॥

जिस प्रकार इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से और लिङ्ग से प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार मन चाहे विषय के सामीप्य से वा मन चाहे विषय की प्राप्ति की आशा दिलाने वाले चिन्हों से सुख दुःख उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

३६०—अभूदित्यपि ॥ ४ ॥

(अभूत्) भूतकाल में हुआ था (इति) इस से (अपि) और भविष्यत् में होगा, इस से भी [सुख और दुःख की उत्पत्ति होती है] ॥

पूर्वानुभूत सुखसाधनों से सुख और दुःखसाधनों से दुःख होता है और होने वाले भविष्यद्वृत्तियों से भी उन की आशा से होता है ॥ ४ ॥

३६१—सति च कार्यादर्शनात् ॥ ५ ॥

(च) और (सति) सुख वा दुःख के होते हुवे (कार्यादर्शनात् सुख वा दुःख का कार्य न देखने से [भी जाना जाता है कि सुख वा दुःख है] ॥

अर्थात् सुख से मुख प्रसन्न होता है, दुःख से मलिन होता है, जब सुख वर्त्तमान हो तब मुखमालिन्य नहीं देखा जाता और जब दुःख हो तब मुख की प्रसन्नता नहीं दीख पड़ती ॥ ५ ॥

३६२-एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ॥ ६ ॥

(एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु) एक पदार्थ में समवेत भिन्न २ कारणों में (दृष्टत्वात्) देखा जाने से [सुख और दुःख भिन्न २ हैं] ॥

जिस को एक अर्थ कहते हैं, उन में भी अपेक्षाकृत फिर विशेषभेद होता है, इस प्रकार सुख दुःख के एकार्थवर्त्ती भी अनेक कारण होते हैं, एक नहीं, उन में से कोई सुख का और कोई दुःख का कारण हो जाते हैं ॥ ६ ॥

३६३-एकदेश इत्येकस्मिञ्छिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि, तद्विशेषस्तद्विशेषेभ्यः ॥ ७ ॥

(एकस्मिन्) एक शरीर में (शिरः, पृष्ठम्, उदरम्, मर्माणि) शिर, कमर, पेट, मर्मस्थान (इति) ऐसा व्यवहार (एकदेशे) शरीर के अवयवों में है। (तद्विशेषः) उन शिर आदि विशिष्ट कार्यों का विशेष (तद्विशेषेभ्यः) उन के विशेष कारणों से होता है ॥ ७ ॥

इस आन्हिक में अपने २ कारणों की विभिन्नता से सुख और दुःख का परस्परभेद और ज्ञान से भेद कहा गया ॥

इति दशमाऽध्यायस्य

प्रथमान्हिकम्

॥१॥

अथ द्वितीयमान्हिकम्

३६४-कारणमिति द्रव्ये, कार्यसमवायात् ॥ १ ॥

(कारणं) कारण है, (इति) ऐसा व्यवहार वा प्रतीति (द्रव्ये) द्रव्य में होती है, क्योंकि (कार्यसमवायात्) कार्यों का समवाय सम्बन्ध [द्रव्यों में ही होता है] इस कारण से ॥

कारण के भेद से कार्य में भेद होता है, और कारण तीन ३ प्रकार के होते हैं, १-समवायी, २ असमवायी, ३-निमित्त। इन तीनों में से समवायी कारण (उपादान) की परीक्षा करते हुवे आचार्य इस सूत्र में बतलाते हैं कि कार्य पदार्थों का समवाय-द्रव्य में होता है, इस कारण द्रव्य में ही उपादान कारणता का व्यवहार होता है ॥ १ ॥

३६५-संयोगाद्वा ॥ २ ॥

(वा) अथवा (संयोगात) संयोग से भी [पाया जाता है कि उपादान कारणता द्रव्य में ही है] ॥ २ ॥

३६६-कारणे समवायात्कर्माणि ॥ ३ ॥

(कारणे) कारण=उपादान में (समवायात्) समवेत होने से (कर्माणि) कर्म भी [कारण होजाते हैं] ॥ ३ ॥

३६७-तथा रूपे कारणैकार्थसमवायाच्च ॥ ४ ॥

(तथा) इसी प्रकार (कारणैकार्थसमवाय त्) कारणैकपदार्थ के समवायसम्बन्ध से (रूपे) रूपादि गुणों में (च) भी [कारणता का व्यवहार है] ॥

अर्थात् कार्य पदार्थ की समीपता से कर्म में कारणता का व्यवहार है, इसी प्रकार कारणैकार्थ की समीपता से रूप और उपलक्षण से अन्य गुणों में भी कारणता का व्यवहार होता है ॥ ४ ॥ उदाहरण-

३६८-कारणसमवायात्संयोगः पटस्य ॥ ५ ॥

(कारणसमवायात्) उपादान कारण=तन्तुओं के समवाय से (संयोगः) संयोग (पटस्य) वस्त्र का [कारण] होता है ॥ ५ ॥

३६९-कारणकारणसमवायाच्च ॥ ६ ॥

(च) और (कारणकारणसमवायात) कारण का कारण समवेत होने से [संयोग की कारणता होती है] ॥

जैसे एक रुई की गांठ दूसरी रुई की गांठ में मिलादी जावे तो महत्त्व परिमाण कार्य उत्पन्न होगा। अब देखना होगा कि रुई के अवयव=टुकड़ों से रुई की गांठ बनी, फिर रुई की गांठों के अवयव मिलने (संयोग) से महत्त्व=बड़ापन बना, तब कारण के कारण का समवाय हुआ अर्थात् रुई के अवयवों से गांठ, गांठों से महत्त्व कार्य उत्पन्न हुआ ॥ ६ ॥

समवायी और प्रसङ्गप्राप्त असमवायी कारणों की परीक्षा कह चुके। आगे निमित्त कारण की परीक्षा करेंगे, इस लिये उस का व्याख्या करते हैं-

३७०-संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम् ॥ ७ ॥

(संयुक्तसमवायात्) संयोगसम्बद्ध समवाय से (अग्नेः) अग्नि का (वैशेषिकम्) विशेष गुण उष्णता [कारण है] ॥

पाक से उत्पन्न रूपादि रङ्गादि कार्यों में अग्नि निमित्त कारण है, जो अपने संयुक्तसमवाय से गरमी पहुंचा कर किसी वस्तु पर रङ्ग उत्पन्न कर देता है। अपना विशेष गुण अग्नि में गरमी का स्पर्श है, उस गुण का आश्रय द्रव्य अग्नि है, उस अग्नि का संयोग पकने वाले फल पुष्पादि में है, वहां अग्नि और फलादि के समवाय से पकने से उत्पन्न होने वाले रङ्गों की, जो पाकज हैं, उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति में फलादि उपादान कारण= समवायी हैं, तेज का संयोग असमवायी कारण है, गरमी का स्पर्श और अन्य अदृष्ट कारण मिलकर सब निमित्त कारण हैं ॥ ७ ॥

पदार्थों का उद्देश और परीक्षा की जा चुकी, जिन के तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है। तत्त्वज्ञान धर्म विशेष से उत्पन्न होता है, धर्मविशेष वैदिक कर्मों के करने से, वैदिककर्मजन्य पुण्य उस के ऊपर अत्यन्त श्रद्धा से बनता है। तब कहीं वैदिककर्मानुष्ठानियों को दृष्टफल के न पाने से अश्रद्धा न हो जावे, इस लिये कृपालु कणाद मुनि अत्यन्त श्रद्धा उत्पन्न कराते हुवे, विद्यार्थियों को विश्वास दिलाते हैं कि-

३७१-दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां, दृष्टाऽभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ८

(दृष्टानाम्) [वेद में] देखे हुये (दृष्टप्रयोजनानाम्) जिन का प्रयोजन इस लोक में ही दीखता है, उन का तथा (दृष्टाभावे) जब दृष्ट ऐहिक फल न मिले तब भी (प्रयोगः) अनुष्ठान करना (अभ्युदयाय) पारलौकिकफल के लिये [माननीय है] ॥ ८ ॥

३७२-अस्मद्बुद्धिभ्यो लिङ्गमृषेः ॥ ९ ॥

(अस्मद्बुद्धिभ्यः) हम सर्वसाधारणों के ज्ञानों से (ऋषेः) वेद के प्रकाशक ज्ञानदाता ऋषि परमात्मा की (लिङ्गम्) पहचान होती है ॥

यदि परमात्मा ज्ञान न देता तो मनुष्यों को ज्ञान न होता। मनुष्यों को ज्ञान है, यह परमात्मा के ज्ञानदान की पहचान है ॥ ९ ॥

३७३-तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥ १० ॥

(तद्वचनात्) उस वेदप्रकाशक ऋषि (एक मात्र ऋषि=परमात्मा) के उपदिष्ट होने से (आम्नायस्य) वेद भगवान् का (प्रामाण्यम्) स्वतः प्रामाण्य है ॥ १० ॥

समवायी असमवायी और निमित्त कारणों और कार्यों की परीक्षा और वेदों का प्रामाण्य इस द्वितीय आह्निक में कहा गया ॥

इति दशमाध्यायस्य

द्वितीयमान्हिकम्

॥ २ ॥

इति दशमाऽध्यायः ॥ १० ॥

समाप्तं चेदं

वैशेषिकदर्शनम्

इति श्री तुलसीराम स्वामिकृते

वैशेषिकदर्शनभाषानुवादे सभाष्ये

दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥



ओ३म्

वैशेषिकसूत्राणामकाराद्यनुक्रमणिका

अ—१

द—११

ह—१३

॥ इति ॥

सचाई का बल

स्वामी प्रेस की आशातीत उन्नति केवल सचाई के बल से हुई है। एक बार १। २ पुस्तक मंगाकर देखिये, तब सचाई का पता चलेगा। फुटकर बिक्री फिर जारी होगई है ॥

छुट्टलाल स्वामी

स्वामी मेशीन प्रेस (मेरठ)

OM

Waisheshika Darshan

By

KANADA MUNI

WITH HINDI COMMENTARY

BY

P. TULSI RAM SWAMI

Commentator on-

Sama-Veda and Nyaya-Darshan, Sankhya-Darshan, Yoga-Darshan &c.

Hindi Translator of Manu-Smriti

and Editor Veda-Prakasha Monthly Paper

Meerut

Price As. 10, Paper bound 11 as.

PRINTED AND PUBLISHED

by

P. Tulsiram Swami, at the Swami Machine Press Meerut.